

**THE BOOK WAS
DRENCHED**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_176122

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No.

H80

K14J

Accession No.

H1517

Author

कालिदास

Title

जीवन साहित्य .

This book should be returned on or before the date last marked below.

जी व न - सा हि त्य

लेखक
श्री काका कालेलकर

अनुवादक
श्रीपाद जोशी

१९४८
सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली

प्रकाशक

मातङ्ग उपाध्याय,

मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल,

नई दिल्ली

दूसरी बार : १९४८

मूल्य

दो रुपया

मुद्रक

अमरचन्द्र

राजहंस प्रेस,

नई दिल्ली १२-'४८

दो शब्द

आचार्य काका कालेलकरके लेखोंका यह संग्रह नये रूपमें पाठकोंके सामने रखा जा रहा है । काकासाहब अब हिन्दी साहित्य संसारमें भी सुविदित हो गये हैं । वे हिन्दुस्तान के गिने चुने मनीषियोंमेंसे हैं । मनीषि सुसंस्कार और सुसूचिकी दीक्षा देकर लोक-जीवनको प्रसादयुक्त तथा कान्तिमय बनाते हैं । अपनी अ्रुति एवं कृतिसे वे समाजके सांस्कृतिक मूल्योंका रक्षण और संवर्धन करते हैं । अिस अर्थमें काकासाहब सचमुच आचार्य हैं । वे आचार्यवान् बुद्धियोगी हैं । अुनकी वाणी केवल शास्त्र-शुद्ध ही नहीं, तपःपूत और अनुभवसिद्ध भी है । अुसकी रुचिरतामें विज्ञान की सूक्ष्मता और अनुभवका तेज है । विज्ञानकला और अनुभवका अैसा मनोहर त्रिवेणीसंगम और कहीं शायद ही देखनेको मिले ।

काकासाहब अेक दूसरे और अुदात्त अर्थमें 'परित्राजक' हैं । वे अपनी मातृभूमिकी ही अपना तोर्थक्षेत्र मानते हैं । अिस पवित्र भूमिसे और अुस पर रहनेवाले सभी संप्रदायों तथा जातियोंके लोगोंसे अुन्हें सच्चा अेवं गहरा अनुराग है । वे अिस देशकी यात्रा निरंतर करते रहते हैं, न कभी थकते हैं न अुबते हैं । अुनकी श्रद्धा और भक्ति नित्य बढ़ती हो जाती है । अिसी लिये अुनके दर्शनमें विविधता, व्यापकता और सुगमताका मधुर संयोग है । अुनकी दृष्टि केवल अखिल भारतीय ही नहीं, सार्वभौम है । अिसीलिये अुनके विचार सर्वस्पर्शी और जीवन-निष्ठ हैं । भारतवर्ष अुन्होंने सिर्फ नकशोंमें नहीं देखा है । सभी प्रान्तोंके जीवनके साथ अुन्होंने प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त किया है । भक्तको अपने अिष्टदेवताके दर्शनोंसे जो आनंद होता है, काकासाहबको भारतमाताके दर्शनोंसे वही आनन्द होता है । अिसीलिये वे चिरप्रवासी रहे हैं । हमने बहुतेरे चलते फिरते पुस्तकालयों की बात सुनी है । काकासाहब अेक जीतेजागते 'विश्वकोष' की तरह समाजमें सांस्कृतिक मूल्योंका प्रकाश फैलाते हैं । जीवनका शायद ही अैसा कोअो पहलू हो जिसका अुन्होंने अपनी विशिष्ट दृष्टिसे विचार न किया हो ।

अनुके विचारोंमें सुविज्ञता और वैज्ञानिकता है, और अनु विचारोंको प्रकट करनेकी शैलीसे अनुकी रसिकता और व्यापक सहानुभूतिका परिचय मिलता है ।

सस्ता साहित्यमंडलने पहले काकासाहबके लेख 'जीवन साहित्य'के नामसे दो भागोंमें प्रकाशित किये थे । अनुमेंसे कुछ चुने हुअे लेखोंके अतिरिक्त कुछ नये लेख भी अिस संस्मरणमें लिये गये हैं । मूल लेख काकासाहबने गुजरातीमें लिखे हैं । अनुवादमें अनुकी शैलीकी सारी सुन्दरता और विशेषता ज्यों-की-त्यों लाना अनुवादककी सामर्थ्यसे बाहर है । वह तो अितना ही कर सकता था कि अनुवादमें अर्थहानि न होने दे । गुजराती भाषाकी भी अपनी अेक खास मोड़ है । अनुवादपर थोड़ी-बहुत अुसकी भी छाया है । लेकिन आन्तरप्रान्तीय सांस्कृतिक जीवनके विकासकी दृष्टिसे अनुवादके ये दोष दूषणभूत नहीं माने जायेंगे । अनुवादके विषयमें अिससे अधिक कुछ कहना अविनय का लक्षण होगा । आशा है, अिस 'जीवन साहित्य' के द्वारा पाठकोंको जीवन और साहित्य दोनोंका अेवं 'जीवनदायी साहित्य' का स्थायी लाभ मिलेगा ।

कोल्हापूर (महाराष्ट्र) }
१० दिसम्बर १९४८ }

—श्रीपाद जोशी

विषय-सूची

जीवन-साहित्य

१. पुराने खेतमें नञ्जी जुताञ्जी	१
२. साहित्य-सेवा	२
३. साहित्योपासना	१४
४. साहित्यकी आजकी अ्रेक कसौटी	१७
५. ब्राह्मी साहित्यकार	१६
६. सौन्दर्यका मर्म	२३
७. प्राचीन साहित्य	२५
८. पत्रकारकी दीक्षा	३३
९. जीवनविकासी संगठन	४६
१०. रस-समीक्षा	६२
११. मेरे साहित्यिक संस्कार	७६

जीवन-संस्कृति

१. संस्कृतिका विस्तार	८७
२. जीवन चक्र	६३
३. सुधारोंका मूल	६७
४. सुधारकी सच्ची दिशा	१००
५. संयममें संस्कृति	१०५
६. पंच महापातक	१०६
७. खुन और पसीना	१०८
८. ओशियाकी साधना	११०
९. वीर-धर्म	११६

१०.	गरीबोंकी दुनिया	१२१
११.	प्रतिष्ठाकी अस्पृश्यता	१२५
१२.	अन्त्यज-सेवा	१२७
१३.	मजदूरोंका धर्म	१३१
१४.	श्रमजीवी बनाम बुद्धिजीवी	१३५
१५.	धर्म-संस्करण	१३६

जीवित-अतिहास

१.	जीवित अतिहास	१४५
२.	शारदका शुद्धबोधन	१४७
३.	जन्माष्टमीका उत्सव	१४६
४.	नवरात्रि	१५७
५.	विजयादशमी	१५६
६.	दीवाली	१६८
७.	वसन्त पंचमी	१७६
८.	हरिणोंका स्मरण	१७८
९.	गुलामों का त्योहार	१८२

जीवन-साहित्य

१

पुगाने खेत में नई जुतायी

एक बूढ़े आदमीने अपनी मृत्युके समय अपने लड़कोंसे कहा कि उसके खेतमें कुछ गहराईपर धन गड़ा हुआ है। लड़कोंने सारा खेत खोद डाला मगर वह धन न मिला। लेकिन उस साल फसल अतिनी अच्छी आयी कि उसके सामने गड़ा हुआ माल मिलता तो भी वह नगण्य मालूम होता। गहरी जोताईका फल मिल गया।

सामान्य लोग विचारक्षेत्रमें जबतक अपर-अपरसे ही हल चलाते हैं तबतक सामाजिक जीवन प्राकृत और क्षीण रहता है। जब-जब 'धीर' लोगोंने अक्त बूढ़ेके लड़कोंकी तरह खूब गहराईतक खोदा है तब-तब विचार की अपूर्व फसल आयी है। श्रीकृष्णने एकबार ऐसा ही किया था। उसीसे भारतीय विचारसागरमें अतिना ज्वार आया। बुद्ध भगवानने ऐसा कोश भी प्रमाण मान लेने से अिन्कार किया जो आत्मप्रतीतिसे भिन्न हो, जिसके परिणामस्वरूप आर्य संस्कृतिकी ज्ञानाग्निपर जमी हुई राख अड़ गयी और आर्य विचार-राशि जगमगा अुठी। फ्रान्सके डिडेरो और दूसरे विश्वकोष-लेखकोंने विचारक्षेत्रको खोदखाद-कर यह देख लिया कि मनुष्य-समाज कौनकौनसे तत्त्वोंपर आधारित है। और तब यूरोप में क्रान्ति होकर आम-वर्ग स्वतंत्र हो गया। मार्टिन ल्यूथरने अपने समयकी धर्म-व्यवस्थाको आग में भोंक दिया जिससे समाजधर्मकी गंदगी साफ होकर

स्वाभाविकता प्रतिष्ठित हो गयी। अिस तरह जब मनुष्य अंध-परंपराको फेंक देकर छोटे मोटे हरेक पदार्थसे 'कोऽसि ? तस्मि-स्त्वयि किं वीर्यम् ?' अैसा सवाल पूछनेकी हिम्मत करता है तब धर्म-संस्करण होता है, जनतामें नया बल आ जाता है, विद्वानों को नयी दृष्टि प्राप्त होती है और अिस दृष्टिका असर चौदह विद्याओं और चौसठ कलाओंपर पड़ता है।

आज हिन्दुस्तानमें अिसी तरहकी तत्त्वजिज्ञासा, धर्मजागृति और कर्म-विचिकित्सा सुलग अठी है। प्रत्येक वस्तुका रहस्य हम खोजते हैं, जीवनका परम रहस्य नये सिरेसे जान लेते हैं और अुसे आचरणमें लाना चाहते हैं; नयी समाजव्यवस्था और नयी आचारविधियों द्वारा हम अुसे समाजमें दाखिल कराना चाहते हैं और यह नया प्राण लेकर हम विचारकी दुनियापर शुद्ध व सात्त्विक दिग्विजय प्राप्त करना चाहते हैं।

आज कृष्ण और शंकराचार्य, बुद्ध और महावीर, चैतन्य और नानक, मेसाया और महादी, सभी नये-नये अवतार लेनेवाले हैं, नये स्वरूप धारण करनेवाले हैं, शायद वे अेकरूप भी होंगे, शायद अेक ही व्यक्ति अनेक रूप धारण करेगा; क्योंकि हम विचार-सागरको आन्दोलित करनेकी हिम्मत और कोशिश कर रहे हैं।

२

साहित्यसेवा

मैं साहित्यसेवी नहीं हूँ; साहित्योपासक भी नहीं हूँ। हाँ साहित्यप्रेमी जरूर हूँ। मैंने साहित्यका आस्वाद लिया है। असका असर मुझपर हुआ है। मैंने देखा है कि अुत्कृष्ट साहित्य बुद्धिको प्रगल्भ बनाता है, भावोंको सूक्ष्म बनाता है, अनुभवको

धुनकर विशद करता है, धर्मबुद्धिको जागृत करता है, हृदयकी वेदनाको व्यक्त और ओजस्वी बनाता है, सहानुभूतिकी वृद्धि करता है और आनन्दको स्थायी बनाता है। अिस वजहसे साहित्यके प्रति मेरे मनमें आदर है। लेकिन मैंने अपनी निष्ठा साहित्यको समर्पित नहीं की है। साहित्यको मैं अपना अिष्ट देवता नहीं मानता। साहित्यको मैं साधनके तौरपर ही स्वीकार करता हूँ, और वह साधनके तौरपर ही रहे अैसा—अगर आप मुझे माफ़ करें तो कहूँ कि—मैं चाहता भी हूँ। गोस्वामी तुलसीदासजीके मनमें हनुमानजीके प्रति आदर था लेकिन अ्युनकी निष्ठा तो श्रीरामचन्द्रजीके प्रति ही थी। अिसी तरह मैं चाहता हूँ कि हमारी अ्युपासना जीवनकी ही हो। साहित्य तो जीवनरूपी प्रभुकी सेवा करनेवाले अनन्यनिष्ठ भक्तके स्थानपर ही शोभा देता है। वह जब अपनी ही अ्युपासना शुरू करता है तब वह अपना धर्म भूल जाता है। मनुष्य अगर अपने ही सुखका विचार करे, अपनी ही सहूलियतोंकी खोजके पीछे अपनी बुद्धि खर्च कर डाले और अपने ही आनन्दमें स्वयं मशगूल हो जाय तो जिस तरह अ्युसका जीवनविकास अटक जाता है और अ्युसमें विकृति पैदा होती है, अ्युसी तरह साहित्यके बारे में भी होता है। जब 'केवल साहित्यके लिये साहित्य' का निर्माण होता है, यानी लोग जब साहित्यकी केवल साहित्यके तौरपर ही अ्युपासना करते हैं तब शुरूमें तो यह सब खूबसूरत दिखाअी देता है, विशेष आकर्षक लगता है, जब तक अ्युसकी पूर्व-पुण्याअी अ्रत्म न हो तब तक अैसा भी महसूस होता है कि अ्युसका बहुत विकास हो रहा है, लेकिन अंदरसे वह निःसत्त्व होता जाता है। साहित्यको अ्युसका पोषण साहित्यमेंसे नहीं बल्कि जीवनमेंसे, मनुष्यके पुरुषार्थमेंसे मिलना चाहिये। साहित्यमेंसे ही पोषण प्राप्त करनेवाला साहित्य कृत्रिम है, वह हमें आगे नहीं ले जा सकता।

अस तरहके कुछ कुछ संकुचित या तंग विचार मैं रखता हूँ। असलिये 'केवल साहित्य' के अपासकोंसे मैं डरता हूँ। अनका देवता अलग है, मेरा देवता अलग। लेकिन साहित्योपासक बहुत अुदार होते हैं। हालाँकि मैं साहित्योपासक नहीं हूँ, फिर भी वह अस बातको स्वीकार करते हैं कि 'अविधिपूर्वकम्' ही क्यों न हो, लेकिन मैं साहित्यका यजन करता हूँ, और मैं 'श्रद्धयान्वित' हूँ। अतः साहित्यके विषयमें अपने कुछ विचार आप लोगोंके सामने पेश करनेकी धृष्टता मैं कर रहा हूँ। आप सबकी अुदारतापर मुझे विश्वास है।

मनुष्यके विचार, असकी कल्पनाओं, भावनाओं, भावुकताओं अथवा भावुकताप्रधान अनुभव दूसरों के सामने परिणामकारक तरीकेसे व्यक्त करनेकी शक्ति जिस वस्तुमें है वह साहित्य है—यह मेरी अपनी साहित्यकी परिभाषा है। मुझे मालूम है कि तार्किक लोग अेक क्षणमें असको छिन्नभिन्न कर सकते हैं, लेकिन अपूर्ण मनुष्यकी बनायी हुअी परिभाषाओं अगर अपूर्ण हों तो उममें आश्चर्य क्या ? जिसमें भावोंपर अनायास प्रभाव डालनेकी शक्ति है वह साहित्य है। सांसर्गिकता यानी ब्रूतपन साहित्यका प्रधान गुण है।

यह प्रभाव अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी। भावनाओं मनुष्य-जीवनका लगभग सर्वस्व होनेकी वजहसे अनपर जिस वस्तुका प्रभाव पड़ता है अस वस्तुकी तरफसे लापरवाह रहनेसे काम नहीं चलता। हवा, पानी, आहार वगैरा शुद्ध रखनेका आग्रह जिस तरह हम रखते हैं या हमें रखना चाहिये अुसीतरह, बल्कि उससे भी ज्यादा आग्रह हमें साहित्यकी शुद्धिके सम्बन्धमें रखना चाहिये। शीलकी तरह साहित्यकी रक्षा जहाँ की जाती है वहाँ जीवन पवित्र, प्रसन्न और पुरुषार्थी होगा ही। अुच्चारण-शुद्धि, हिज्जोंकी शुद्धि, व्याकरणकी शुद्धि आदि प्राथमिक बातोंसे

लेकर साहित्यके प्रत्येक अंग-प्रत्यंगमें शुद्धिका आग्रह होना चाहिये। लेकिन अस्में कृत्रिमता न आये, बाह्याडंबर न आये, दंभ न आये, कर्मकांड न आये।

निर्व्याज मुग्धता शुद्धिका अेक पहलू है और संस्कारिता दूसरा पहलू। दोनों तरहसे शुद्धिकी रक्षा की जाती है। लेकिन अगर हम शिथिलताके ही हामी बन जायँ और हर तरहकी विकृतिको भी नजरअंदाज करनेको तैयार हो जायँ, अगर सामाजिक जीवनमें सदाचारका और साहित्यमें शुद्धिका थोड़ा भी आग्रह रखनेका जो कोई प्रयत्न करेगा अस्के खिलाफ आवाज बुलन्द करके असे चुप करानेकी कोशिश करें तो अस्से समाजका बेहद नुकसान होने वाला है। सामाजिक जीवनमें हो या साहित्यमें, शुद्धि रखने की जिम्मेदारी विशिष्ट श्रेष्ठ वर्गकी ही होती है। पुलिस या अदालतोंके जरिये सामाजिक सदाचारका सर्वोच्च आदर्श नहीं टिक सकता। साहित्यकी भी यही हालत है। समाजके स्वाभाविक अगुआ जब शिथिल हो जाते हैं, डरपोक बन जाते हैं अथवा अदासीन हो जाते हैं तब समाजको बचानेवाली कोअी भी शक्ति नहीं रहती।

साहित्यकी प्रवृत्ति हमेशा समाजसेवाके लिये ही होती हो सो बात नहीं। मानसिक आनन्द, सन्तोष, भुंभलाहट या व्यथाको प्रकट करनेकी, शब्दबद्ध करनेकी जो सहजप्रवृत्ति मनुष्यमें है अस्मेंसे साहित्यका अद्गम होता है। संगीतकी तरह साहित्यका आनन्द भी मनुष्य अकेले-अकेले ले सकता है, फिर भी तमाम वागव्यापार सामाजिक जीवनके लिये ही हैं। साहित्यकी प्रवृत्ति प्रधानतया अपने भावप्रधान मनन अथवा अद्गारोंको दूसरेमें संक्रान्त करनेकी अिच्छासे हुआ करती है। असलिये यह कहा जा सकता है कि साहित्य प्रधानतया सामाजिक वस्तु है। जीवनकी सभी अच्छी चीजोंकी तरह सच्चा साहित्य आत्मनैपदी

भी होता है और परस्मैपदी भी । मनुष्यके सर्वोच्च सद्गुण अस्सके सामाजिक जीवनमेंसे पैदा होते हैं । और तो और, अनन्यनिरपेक्ष मोक्षेच्छा भी सर्वोके साथ आत्मौपम्य अनुभव करनेके लिये ही है, यानी अस्सका प्रारंभ और अन्त सामाजिक जीवनकी कृतार्थताके साथ ही है । साहित्यके बारेमें भी ऐसा ही कहा जा सकता है । जिस तरह गायनके साथ तंबूरेकी आवाज तान लिया ही करती है अस्स तरह साहित्यके तमाम विस्तारमें जनहितका, लोक कल्याणका सूर कायम रहना ही चाहिये । जो कुछ अस्ससे विसंवादी होगा वह संगीत नहीं बल्कि मानसिक कोलाहल है । वह साहित्य नहीं बल्कि मानसिक जहर है ।

अकबार हिन्दुस्तानके ऐतिहासिक पुरुषोंकी सूचीमें मैंने श्रीमद्भगवद्गीताका नाम भी जोड़ दिया था । 'जिसके व्यक्तित्वकी छाप समाजपर अलग-अलग समयपर अलग-अलग ढंगसे पड़ती है और अस्सलिये जिसके चिरंजीवीपनका अनुभव हमेशा होता रहता है वह है व्यक्ति अथवा पुरुष' ऐसी परिभाषा की जाय तो हम यह मान सकते हैं कि भगवद्गीताको राष्ट्रपुरुष कहनेमें औचित्यका कोअी भंग नहीं है । साहित्यके बारेमें भी यही बात है । अक या अन्य प्रकारसे सामर्थ्य प्रकट करनेवाले व्यक्तिका हृदयसर्वस्व होनेके कारण व्यक्तिके प्रभावकी तरह अस्स व्यक्तिके साहित्यका भी प्रभाव हुआ करता है । प्रभु, मित्र या कान्ताके साथ साहित्यकी तुलना करनेवाले साहित्याचार्योंने यही बात दूसरे ढंगसे कही है । 'प्रभु' की जगह आज हम 'गुरु' शब्दको अधिक पसन्द करते हैं । गुरु, मित्र और जीवनसहचरी तीनों संबन्ध पवित्र हैं, अुदात्त हैं । साहित्यका विरुद्ध ऐसा ही होना चाहिये । सामाजिक व्यवहारमें हम चाहे जिस आदमीको घरमें घुसने नहीं देते । चोर, शठ, पिशुन या भुजंगकी प्रेणीके लोगोंको हम देहलीजके अन्दर पैर नहीं रखने देते ।

साहित्यके अपर भी हमारी औसी ही चौकी होनी चाहिये । अप-
वित्र मनुष्य चाहे जितना शिष्टाचारी क्यों न हो, उसे जिस
तरह हम अपने बालबच्चोंके साथ बगैर किसी रोकटोकके मिलने-
जुलने नहीं देते उसी तरह पापाचरणको उत्तेजन देनेवाले
साहित्यको भी हमें अपने घर में घुसने नहीं देना चाहिये । घरसे
बाहरके व्यवहारमें जहां सभी क्रिस्मके लोगोंके साथ सम्बन्ध
आता है वहां अच्छी और खराब बातोंको परखनेकी कला जिस
तरह हम अपने बालकों को प्रदान करते हैं और ज्यादाती करने-
वाले मनुष्यको दूर रखनेको सिखाते हैं उसी तरह साहित्यमें भी
दुष्ट साहित्यके हावभावोंमें न फँसकर उसे दूर रखनेकी कला
हमें अपने बालकोंको सिखानी चाहिये ।

लेकिन मैं जानता हूँ कि आजकी हवा अिस तरहकी नहीं है ।
शिष्टाचारकी पुरानी बाड़ें तोड़नेका ही प्रयत्न हमने शुरू किया
है । अुनके स्थानपर नये आदर्शकी नयी मर्यादाओं तैयार करनेकी
बात हमें नहीं सूझी है । कृत्रिम या यांत्रिक बाड़ोंकी हिमायत में
भी नहीं करता । लेकिन समाजहृदयमें कुछ न कुछ आदर्श तो
होना ही चाहिये और अुस आदर्श की रक्षा करनेका आग्रह
रखनेवाले समाजधुरीण भी चाहिये । वे अगर अपना यह स्व-
भावसिद्ध कुलव्रत छोड़ दें तो संस्कृति कैसे टिक सकेगी ? संस्कृति
तो अँगीठीकी आगकी तरह जबतक हवा चलती है तभी तक
टिकनेवाली चीज़ है । पुरुषार्थ और जागृतिकी चौकीके बिना
अेक भी संस्कृति नहीं बची है । संस्कृतिको प्रकृतिके अपर नहीं
छोड़ा जा सकता । लेकिन आज तो औसा लगता है कि मानो हम
सामाजिक अराजकता ही पसन्द करते हैं । यह तो साफ जाहिर
है कि पुरानी व्यवस्था अब नहीं टिक सकती, न टिकनी भी
चाहिये । लेकिन पुरानेकी जगह नयी व्यवस्था रचनेके लिये
आवश्यक प्राणबल हमारे समाजमें होना चाहिये । कानूनके

अंकुशकी बात मैं नहीं करता। मैं तो ऐसा ही मानता हूँ कि साहित्यपर कानूनका अंकुश कमसे कम होना चाहिये। सदाचार-की सर्वोच्च कोटिका विचार करके कानून नहीं चलता। कानून-की आंखें स्थूल होती हैं, जड़ होती हैं और अुसके अुपाय असं-स्कारी होते हैं। साहित्य पर अंकुश होना चाहिये लोकमतका। लोकमतका के मानी हैं संस्कारी, अुदार, चारित्र्यवत्सल समाज-धुरीणोंका। ऐसा कुछ करने के लिये आजका समाज तैयार नहीं है यह मुझे मालूम न हो सो बात नहीं। लेकिन यह कहना ही पड़ेगा कि अिससे समाज अपना ही नुकसान कर लेता है। 'नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्' अिस दलील की आड़ में हम सारी मर्यादाओंका छेद अुड़ाना तो नहीं चाहते ?

साहित्य है कलाका ही अेक विभाग। अिसलिये कलाके नियम अिसपर भी लागू किये जाते हैं। कलाके लिये ही कला है, कला कभी भी किसी बाह्य वस्तुके अंकुशको स्वीकार नहीं करेगी—अेसा कहनेवाले केवल-कलावादी लोग नीतिके अंकुशका हमेशा मज्जाक अुड़ाते आये हैं। 'स्वात्मनि अेव समाप्त महिमा' अिस तरहकी यह कला देखते-देखते निरर्गल, स्वार्थी बन जाती है। और स्वार्थ-के साथ सत्त्व कब टिका है ? Art for Art's sake (कला कलाके लिये) की परिणति Art for the Artist's sake (कला कलाकारके लिये) में हो जाती है।

मेरा यह आग्रह नहीं है कि कलाको नीतिका अंकुश स्वीकारना ही चाहिये। लेकिन अिसका कारण अलग है। साहित्यके पास अुसका अपना गांभीर्य, अपनी प्रसन्नता और पवित्रता क्यों न हो ? हास्य-विनोद अिन तीनोंका विरोधी तो नहीं है। अितना ही नहीं बल्कि वह अिन तीनोंको अुब कोटिको पहुंचाकर दिखाता है। अगर साहित्य स्वधर्मका पालन करे तो अुसे नीतिका अंकुश स्वीकारना न पड़ेगा। साहित्य जब हीन अभिरुचिके या कला-

शत्रु विलासिताके शराबखानेमें जा पड़ता है तब नीतिको लाचार होकर असे वहांसे अठकर घर लाना पड़ता है। स्वराज्यमें या सुराज्यमें सदाचारी और स्वयंशासित नागरिकोंको नगर-रक्षकोंसे डरनेका कोअरी कारण नहीं रहता।

लेकिन कला और साहित्य अके ही वस्तु नहीं हैं। सुन्दरता साहित्यका भूषण है न कि सर्वस्व। साहित्यका सर्वस्व, साहित्यका प्राण ओजस्विता है, विक्रमशीलता है, सत्त्ववृद्धि है। जीवनके विविध क्षेत्रोंमें पौरुषकी वृद्धि करनेमें ही साहित्यकी अन्नति रही है।

क्या विषय-सेवन समाजमें अतना क्षीण हो गया है कि विलास-प्रेरक साहित्यके द्वारा असे अत्तेजन देनेकी आवश्यकता अत्यन्त हुआ है? समाजकी तरह साहित्यको भी देहधारीके नियमोंके बश होकर अन्न-नीच स्थिति ॥ भुगतनी पड़ती हैं। जब समाजका सम्पूर्ण अत्कर्ष हो चुका हो, अस्के कारण आनेवाली समृद्धि भी थक गयी हो, तब भले ही समाज विलासितामें डूबकर सर्वस्व खोनेको तैयार हो जाय; लेकिन जब पतित समाज मानवजातिपर आनेवाली सभी आपत्तियोंका दुर्दैवी संग्रहस्थान बन गया हो, करोड़ों लोग भूखसे या निराशासे तड़पते हों, पुरुषार्थका जहां तहां भाटा ही दिखाअरी देता हो और बरसातके दिनोंकी काली रातकी तरह चारों ओर अज्ञान फैला हुआ हो, अैसे वक्तपर तो हृदयकी दुर्बलता बढ़ानेवाला, नामर्द वासनाओंको खूबसूरत करके दिखानेवाला और अनेक हीन वृत्तियोंका बचाव या तरफदारी करनेवाला हत्यारा साहित्य हम पैदा न करे। चढ़नेसे पहले ही पड़नेकी तैयारी कैसी?

सिंहासनबत्तीसी और बेतालपच्चीसीके वातावरणसे हम अभी कहीं बाहर निकले हैं, तो फिर असी वातावरणका सुधरा हुआ और आडंबरपूर्ण संस्करण निकालकर क्या हम चढ़ सकते हैं?

दुर्गुणका कलेवर भले ही सुन्दर हो, उसकी पोशाक भले ही प्रतिष्ठित हो, अतने भरसे वह कम घातक साबित नहीं होता; बल्कि वह ज्यादा खतरनाक हो जाता है।

अपनी समाज-व्यवस्थाकी सुन्दरताका हम चाहे जितना बखान करे, मगर उसमें आज अक त्रुटि स्पष्ट दिखाअी देती है। अक जमाना था जब हम सब संस्कृतमें ही लिखते थे। असलिये हमारे प्रौढ और ललित विचार सामान्य समाजके लिये दुष्प्राप्य थे। लेकिन अस वक्त संत-कवि और कथा-कीर्तन-कार वह सारा कीमती माल अपनी शक्ति के अनुसार स्वभाषाकी फुटकर दूकानोंमें सस्ते दाम बेचते थे। मुगल-कालमें अरू की प्रतिष्ठा बढ़ी और अरबी, फारसी भाषाओंसे कवियोंको प्रेरणा मिलने लगी। अंग्रेजी जमाना शुरू हुआ और अपनी सारी मानसिक खराक अंग्रेजीसे लेनेकी हमें आदत पड़ गयी। उसका अच्छा और बुरा दोनों तरहका असर हमारी मनोरचनापर पड़ा है; साहित्यपर तो पड़ा ही है। आजकलके हमारे अखबार और मासिकपत्रिकाओं नये जमानेके विचार फुटकर भावसे बेचनेका काम करने लगी हैं। लेकिन अिन तीनों युगोंमें गरीब श्रेणीके लोगोंके लिये, देहातियों और मजदूरोंके लिये, स्त्रियों और बालकोंके लिये विशेष प्रयास नहीं हुआ है। अशिक्षित समाजमें भी अउनका सामाजिक प्राण बहुत कुछ साहित्यका निर्माण करता है। हमारे संस्कारी देशमें साधुसन्तोंकी कृपासे उसमें कुछ वृद्धि हुआी हो तो अससे आश्चर्यान्वित होनेका कोअी कारण नहीं। लेकिन ज्यादातर मध्यम श्रेणीका ही विचार हम हमेशा करते आये हैं। हम यह भूल गये हैं कि गरीब लोगोंका जीवन सन्तोष-मय, आशामय और संस्कारमय करना हमारा धार्मिक कर्तव्य है। कुछ अिनीगिनी कहानियोंको छोड़ दें तो हमारी कहानियों और अपन्यासोंमें गरीबोंके करुण काव्यमय जीवनका विचार

भी नहीं होता। पुराणकारोंने जिस तरह अमृत, अप्सरा और श्रीर्ष्यासे भरे हुए स्वर्गकी कल्पना की, उस तरह आजकलके अपुन्यासकार जैसेही किसी बेकार आदमीकी कल्पना करते हैं जो वकील-बैरिस्टर हुआ हो, जिसने विलायतका सफर किया हो या वसीयतनामेसे जिसको खूब पैसा मिला हो और उसके 'आत्मनि संतुष्ट' निरर्थक जीवनका सविस्तार वर्णन करते हैं। जातिभेद हमारे मनोरथोंमें भी अतिना भरा हुआ है कि मध्य श्रेणीके बाहरकी दुनियाको हम नहीं देख सकते। बिल्कुल गरीब लोगोंका जीवन हमें दयापात्र किन्तु रहस्यशून्य लगता है। श्रीसपके उस बारहसींगेकी तरह हम सिरपरके सींगोंके गरूरमें अपने पतले पैरोंका तिरस्कार करने लगे हैं, या तिरस्कार करने जितना भी ध्यान हम उनकी तरफ नहीं देते। कर्म और पुनर्जन्म-के सिद्धान्तका आश्रय लेकर हम अपने अनाथद्रोहको ढँक लेते हैं, अनाथोंकी सेवा तो दूर रही, उनका स्मरण तक हम नहीं करते। अंग्रेज कवि हूडके Song of the Shirt (कमीजका गीत) की बराबरी कर सके ऐसा मौलिक काव्य क्या किसीने लिखा है ? श्रीसपके उस बारहसींगेकी जो हालत अन्तमें हुआ वही हालत हमारी हमेशा होती आयी है। और अब तो विनाशकी घटाओं सिरपर मंडरा रही हैं। हमारा लोकप्रिय साहित्य हमारी सामाजिक स्थितिका सूचन करता है। जो कुछ दिलमें होगा वही होठोंपर आयेगा न ? गरीबोंकी मुश्किलें कौन-कौनसी हैं, उनका दर्द-दुःख क्या है, उनके सवाल कितने पेचीदा और विशाल हैं अिन सब बातों पर जिम्मेदारीके साथ विचार करके असली सवाल हल कर सके ऐसी योजना जब होगी तभी गरीबोंके दिलोंमें कुछ आशा पैदा होगी न ? जिसकी हम औरन चुराते हैं उसीको अगर दानमें छोटीसी सूची देते हों तो उसे लेते समय लेनेवालेके दिलमें कैसी भावना उत्पन्न होगी ? हमारा

साहित्य अगर हमें अपना युगधर्म न बताये और उस धर्मका पालन करनेकी प्रेरणा हमें न दे तो वह अन्य सब प्रकारसे सरस होते हुअे भी उसे विफल ही कहना चाहिये ।

गरीबोंको बाहर रखनेके लिये जिस तरह हम किवाड़ बन्द करके खाना खाते हैं और पंक्तिभेद का प्रपंच रचते हैं उसी तरह हमने साहित्यकी विशिष्ट कठिन शैलियोंको अपनाकर ज्ञानकी प्याअ्र में जातिभेद पैदा किया है । अुदात्त, अुन्नत विचार आम जनताको जिस आसानीसे मिलने चाहिये वह नहीं मिल सकते । हमारे साधुसन्तोंने गरीबीका व्रत ले लिया था, अिसी लिये वे गरीबोंकी सेवा कर सके और गरीबोंके लिये प्राणपूर्ण साहित्य लिख सके । हिन्दुस्तानकी सबसे बड़ी ताकत उसकी जन-संख्या है । लेकिन हमने गरीबोंका द्रोह करके अिसी बलको भाररूप बना दिया है । जबतक हम गरीबोंके लिये साहित्य न लिखेंगे, हजारों की तादाद में बाहर निकलकर गरीबोंको हमारा अितिहास और आजकी हमारी स्थिति, हमारा काव्य और हमारा धर्म तथा उसकी खूबियां न समझाअेंगे, अपने जीवन पर जमी हुअी राख हटाकर उसे प्रदीप्त करने की प्रेरणा न देंगे तब तक हमारा साहित्य पांडुरोगी ही रहेगा ।

साहित्यकी अुन्नतिके लिये तैयार होनेवाली योजनाओं में कोष और सन्दर्भग्रन्थ, अितिहास और विवेचन, पाठ्यपुस्तकें और प्रमाणग्रन्थ, परिषदें और समितियां—बहुत कुछ बातें होती हैं । वह सब छोड़कर साहित्यके अुद्धारके लिये गरीब जनताकी सेवा करने की सूचना मैं कर रहा हूं यह देखकर कुछ लोगोंको अैसा लगेगा कि मैं साहित्य-मंडलको समाजसुधार-परिषद समझनेकी भूल करके बातें कर रहा हूं । मुझपर यह अिलजाम भले ही लगाया जाय लेकिन मैं तो निश्चित रूपसे यह मानता हूं कि भेड़ को जिस तरह प्रधानतया जमीनमें से ही पोषण मिलता है,

अस तरह साहित्यका पोषण समाजमें ही है। मानवता और धर्मनिष्ठा में से ही हमारा साहित्य समृद्ध होनेवाला है जिसमें मुझे तनिक भी शक नहीं है।

अुल्लिखित आजकलकी योजनाओंको मैं नीचा दिखाना नहीं चाहता। अनुमें यथा-शक्ति भाग भी लेना चाहता हूं। लेकिन असली बातको भूल जानेसे काम न चलेगा।

जहां पुरुषार्थ की कमी हो जाती है और जीवनमें शिथिलता आ जाती है वहां साहित्यके बारेमें अल्पसन्तोष और रसिकताका छिछलापन स्वाभाविक रूपसे आ जाता है। आज हम महाकाव्य नहीं लिख सकते, हमारी प्रतिभा चौदह पंक्तियां किसी तरह पूरी करनेसे पहले ही सूख जाती है—अस तरहकी आलोचना मैं नहीं करना चाहता। काव्यकी लम्बाई-चौड़ाईपर मैं अधिक जोर देना नहीं चाहता। लेकिन हमारे काव्यविषय अुत्तंग अथवा गंभीर नहीं हुआ करते, हमारे काव्यविवेचन सर्वकष और अुत्कट नहीं हुआ करते अैसी आलोचना मैं जरूर करूँगा।

साहित्य तो ज्यादातर व्यक्तिगत प्रयास ही है। वह जब तक गंभीर और दीर्घ अुद्योगके परिणामरूप न होगा तब तक छिछला ही रहेगा। अैश्वरने असाधारण प्रतिभा प्रदान की हो तो भी वह शक्ति बीजरूप ही होगी। मनुष्यको कमसे कम मालीका काम तो अैमानदारीके साथ करना ही चाहिये। साहित्यमें सहयोग के साथ काम किये बिना भी न चलेगा। सहयोगके लिये जो सद्गुण आवश्यक हैं अुन्हें अपनेमें लाये बिना अब एक कदम भी आगे बढ़ना मुश्किल है ! सिद्धान्तका आग्रह, स्वभाव-भेदको नजरअन्दाज करनेकी शक्ति, तफसीलमें अुतरनेकी कुशलता और अेक ही संकल्पसे लम्बे अरसे तक चिपके रहनेकी दृढ़ता—अिन सामाजिक सद्गुणोंका विकास अगर हम न करेंगे तो हमारे हाथों कुछ विशेष साहित्यसेवा हो ही न सकेगी।

यह तो हुआ साहित्यकी सेवा । किन्तु सच्चे साहित्यका निर्माण तो जनताके पुरुषार्थका ही फल है । 'कारभार (कारोबार) में दखल देनेकी अिजाजत न होगी तो करभार भी नहीं दिया जा सकता ।' अिस जगविग्यात सूत्रके पीछे सिर्फ भापामौप्रव या अनुप्रासकी लज्जत नहीं है । अुसमें लज्जतकी अपेक्षा अमेरिकन जनताका पुरुषार्थ ही प्रमुख वस्तु है । साहित्यकी अुन्नति जनता की अुन्नतिके साथ ही होती है । आपके जिलेके किमानोंने गुजराती भापामें जो वृद्धि की है वह अपनी दो-चार परिपदें भी न कर सकेंगी । 'हमने वल्लभभाअीके हाथों अपना मिर सौंपा है न कि नाक ।' अिस वचनपर गुजराती जनताको हमेशा नाज रहेगा । 'हमारे स्वर्चसे बन्दूकों और तोपें रंगते हैं मगर कर्मा दिखाते भी नहीं । हमारे बालबच्चोंको बन्दूकों और तोपोंका मजा चखवायेंगे तो हमारी औलाद तो सुधरेगी ।' यह अेक ही वाक्य गुजराती भाषाको वीर्यशाली बनानेके लिये काफी है । सावरमतीके किनारे गांधीजीने और बारडोली के खेतोंमें वल्लभभाअीने जिस भाषाको गढ़ा है वह भाषा अपनी स्वाभाविकतासे ही धीरोदात्त और प्रौढ़ बनी है । साहित्य तो जनताके पराक्रमका प्रसाद है । बूढ़ा मिशनरी टेलर हमसे कह गया है, 'यथा भाषकस्ततथा भाषा' । साहित्यकी अुन्नति करनी हो तो अपने जीवनको अुन्नत करो । साहित्य जीवनकी छाया है, जीवनकी सुगंध है ।

३

साहित्योपासना

कोअी परीक्षामें पास हो जाय, किसीके घर लड़का पैदा हो, किसीका बिलुड़ा हुआ भाअी फिरसे मिल जाय, या किसीको

ता० १५-६-२८ को मूरत-साहित्य-मंडलके वार्षिक उत्सव के अवसरपर दिया हुआ भाषण ।

लाटरीमें अिनाम मिल जाय तो अुस खबरका तार लानेवालेको वह कुछ न कुछ अिनाम देता है । मालिक को तारका महत्व जितना अधिक होगा अुतनी मात्रामें तार लानेवालेके विषयमें अेक प्रकारकी अुपकार-बुद्धिसी अुसके मनमें रहती है । और अिसलिये अच्छा-सा अिनाम देकर अिम अुपकारकी पूर्ति करनेकी कोशिश करता है । असलमें देखा जाय तो तार लानेवालेका अुपकार कैसा ? तारका मजमून बनानेमें अुसका हिस्सा थोड़ा ही हुआ करता है ? मनिआर्डर या पारसल लानेवाले डाकियेकी हालत भी अैसी ही है ।

फिर भी आनन्दमूढ़ होना मनुष्यका स्वभाव है । लेकिन अिस मनुष्यस्वभावके कारण अिनाममें मिला हुआ पैसा जेबमें डालनेवाला डाकिया अगर अपनी ही बड़ाअी महसूस करने लग जाय तो अुसके जैसा मूरख वही है ।

अध्यापककी कुर्सीपर बैठकर विद्यार्थियोंके सामने सुन्दर साहित्य परोसनेका काम जो लोग करते हैं अुनके प्रति भी अिसी तरहकी कृतज्ञताबुद्धि विद्यार्थियोंके मनमें रहा करती है । साहित्य-क्षेत्रमें अच्छे-अच्छे फल चुननेमें अध्यापककी कुशलता, सदभिरुचि और विद्यार्थीका कल्याण समझनेकी सद्बुद्धि-अिन सब बातोंको महत्त्व है अिसमें कोअी शक नहीं । लेकिन अगर अध्यापक अैसा गर्व करेगा कि अुन परिपक्व साहित्यफलोंको मानो अुसीने जन्म दिया है, तो अुसका वैसा करना हास्यास्पद होगा ।

अैसा मानना, कि हमें जिस वस्तुसे आनन्द हुआ अुसी वस्तुका हमारे कहनेसे-आस्वाद लेकर दूसरा आदमी अुतना ही आनंदित हो जाय तो वैसा करके अुसने हमारे आनन्दको दुगुना बनानेमें मदद दी--यह अुसीका हमारे अुपर अुपकार है, शायद ठीक होगा ।

जो हो, दुनियाकी तरफ देखनेकी दृष्टि और जीवनको अन्नत

बनानेका मार्ग जिस साहित्यमें विशद और सुभग ढंगसे व्यक्त हुआ हो वह साहित्य सिर्फ पढ़कर रहने देनेके लिये नहीं है बल्कि अमृतमय रसायनकी तरह असका विधिपुरःसर आदर युक्त सेवन करना पड़ता है। परन्तु जो अकेल बार साहित्योपजीव बन जाता है उसे घी या खीर परोसनेकी दूर्वा (चमची) की तरह सिर्फ परोसनेका आनन्द लेकर ही बैठे रहनेकी आदत पड़ जाती है। और वह अिसी बातका विचार करता रहता है कि वह मिठाई किस तरह लोगोंके सामने परोसनेसे परोसनेवालेके मिलनेवाली वाह-वाही उसे मिले। यह दूर्वाव्रत निष्काम हे या सकाम, जीवन को उन्नत करनेवाला तो हरगिज नहीं है।

साहित्य-अच्छ साहित्य-असलमें देखा जाय तो हृदयमें अभिजात्य अुत्पन्न करनेका और जीवनको अुन्नत बनानेका अेक साधन-मात्र है। साहित्यका केवल प्रचार करनेकी अपेक्षा उसे हजम करके, अपना जीवन अुन्नत करके, सेवाद्वारा अस जीवन की सुगन्धि फैलाकर समाजको और अपनेको कृतार्थ बनाना चाहिये। अैसी सेवा करते-करते हमको भी किसी दिन सरस्वती वैखरीका अुपयोग करनेका मौका मिल जाता है और हमारे हाथसे या मुखसे प्रसन्न साहित्यका निर्माण होता है। अस ढंगसे होनेवाले साहित्यका प्रचार अपरिहार्य, सहज और शुभ-परिणामकारी होता है।

अच्छा साहित्य देखकर मनमें सिर्फ परोसनेवाले की वृत्ति जागृत नहीं होनी चाहिये, बल्कि 'अिष्टैः सह भुज्यतां' की प्राचीन आज्ञाकेअनुसार या सामाजिक मनोवृत्तिसे असका सेवन करके अिष्टमित्रोंके साथ अपना जीवन अुन्नत और परिपुष्ट करने की तरफ ही हमारा झुकाव होना चाहिये।

यहां तक किये हुआ विवेचनमें कोअी असाधारण बात कही है सो बात नहीं। लेकिन परोसनेकी वृत्तिका दोष आजकलके

अध्यापक, लेखक, प्रचारक, कवि और पत्रकार सबमें बहुत बढ़ गया है और असलिये साहित्यका सेवन करके साधना द्वारा उसे हजम करके जीवन को अन्नत बनानेकी ओर अतिनी लापरवाही होने लगी है कि अकलमंद लोगोंको भी यह छोटीसी सूचना करने की जरूरत पैदा हो गयी है।

कोअरी भी ग्रंथ पढ़ते वक्त ग्रंथकारकी वृत्ति और दृष्टिके साथ तदाकार होकर पढ़ना चाहिये। लेकिन ग्रन्थके बारेमें कभी प्रामाण्यबुद्धि अतुपन्न नहीं होने देना चाहिये। ज्ञान चाहे जहांसे, चाहे जैसा मिले तो भी तारतम्य बुद्धि तो अपनी ही होनी चाहिये। प्रत्येक ग्रन्थका कालिक, देशिक और वैयक्तिक (व्यक्तिगत) संस्करण करना ही पड़ता है। यह जो कर सकता है उसीका वाचन सफल और कृतार्थ होता है।

— हिंडलगा जेल, १९३२

४

साहित्य की आजकी अक कसौटी

संस्कारी लोगोंका पक्ष लेकर राजा भर्तृहरिने साहित्य, संगीत और कलासे विहीन लोगोंको बे-सींग-और-पूँछके पशु कहा है। यह लिखते समय भर्तृहरिके मनमें साहित्यके बारेमें कितना अँचा खयाल होगा ! आजकी प्रथाके अनुसार अगर हमने उस साहित्य-स्वामीसे पूछा होता कि 'आपकी साहित्य की परिभाषा क्या है ?' तो तुरन्त अक वाक्यमें उसने कह दिया होता, 'नरपशुको जो पुरुषोत्तम बना सकता है वह साहित्य है।' भर्तृहरिका 'अकान्ततो निःस्पृह' पंडित न लोभ या कीर्तिसे ललचायेगा, न राजा से भी डरेगा। अैसे ही मनुष्योंको हम साहित्यवीर कह सकते हैं।

साहित्य दैवी शक्ति है। जिस शक्तिके बलपर निर्धन मनुष्य भी लोकप्रभु बन सकता है और महान् सम्राट भी राजदंडसे जो कुछ नहीं कर सकते उसे शब्दशक्ति द्वारा आसानीसे साधता है। राजाको तनखाह देकर अपने यहां 'प्राणत्राणप्रवण-मति' हृदयशून्य सिपाही रखने पड़ते हैं। लेकिन साहित्यसम्राटके पास सहृदय सज्जनोंकी स्वयंसेवी फौज हमेशा तैयार रहती है। सच्चा साहित्यवीर यह नहीं कह सकता कि फलां चीज मेरे लिये 'अशक्य' है। साहित्यकी दीक्षा लेनेके बाद उसे तो प्रत्येक न्याय्य और धर्म्य कार्य अपना ही समझना चाहिये। सुखी लोग पुरस्कारके वक्त समय बितानेके लिये कुछ अच्छासा साहित्य पढ़ना चाहते हैं। उसकी पूर्ति करनेसे और भाषा सौन्दर्यके नये-नये प्रकार उत्पन्न करनेसे साहित्यकी सेवा हो गयी। ऐसा कोअी न माने। लोगोंमें उत्साह पैदा करना, लोगों की शुभवृत्तिको जागृत करना, और सरस्वतीके प्रसादसे लोगोंका धर्मतेज प्रज्वलित करना साहित्यकारका काम है। सिर्फ जनरंजन करना, लोगोंमें जो-जो वृत्तियां उत्पन्न होंगी उन सबके लिये पर्याप्त आहार दे देना साहित्यकारका धंधा नहीं है। 'अैसे लोगोंमें मैं नहीं हूँ'— कहकर भट्टहरिने गाया था:—

‘न नटा न विटा न गायका न परद्रोह-निबद्ध-बुद्धयः’ अित्यादि।

सौन्दर्यके साथ अगर शील हो तभी वह शोभा देता है, साहित्यके साथ सात्विक तेज हो तभी वह भी कृतार्थ होता है।

हमारे जमानेमें मानवताकी कसौटी करनेवाला अेक बड़ा सवाल हमारे सामने खड़ा है प्रत्येक मनुष्यको वह कसता है— राजसेवकको तथा जनसेवकको, धर्माधिकारियोंको तथा अर्थाधिकारियोंको, हिन्दुओंको तथा औरोंको। जिस तरह खेतोंमें, हमारी धारणाओंमें अस्पृश्यता घुस गयी है, वह जबतक जड़मूलसे निकल न जायेगी तबतक हमको शान्ति मिलनेवाली नहीं है।

राजनैतिक पुरुष कमर कसकर असके पीछे पड़े हैं। सामाजिक रूढ़ियोंके विषय में अुदासीन रहनेवाले हमारे साधुसन्तोंने अिस अस्पृश्यताको बदनाम करनेके लिये अपनी प्रासादिक वाणीका प्रयोग किया है। महाराष्ट्रमें वैश्योंमें तुकाराम, और ब्राह्मणोंमें गृहस्थाश्रमी अेकनाथ और ब्रह्मचारी रामदास अस्पृश्यताको वर्दाशत न कर सकते थे। गुजरातमें ज्ञानी संत अखो और भक्तशिरोमणि नरसैया अस्पृश्यता को दूर करनेके लिये धर्मवीरकी तरह लड़े हैं। आजके जमानेमें श्रद्धामूर्ति श्रद्धानन्दजीका बलिदान भी अिसीलिये हुआ है। साहित्य-वीरोंको भी आज अपनी शक्ति—शक्तिसर्वस्व—अिसी धर्मकार्यमें लगानी चाहिये। अस्पृश्यतानिवारण हमारा युगधर्म है। अिससे पहले कि हम मर जायँ, अस्पृश्यता मर ही जानी चाहिये। वरना सनातन धर्मके भी टिकने की आशा नहीं है।

अब देखना है कि आजका साहित्य अिस अेक वीरकर्मकी सफलता के लिये क्या-क्या करनेको तैयार है।

—सन् १९२६

५

ब्राह्मी साहित्यकार

अिस विशाल विश्वमें हमारे लिये जीवनसे श्रेष्ठ कोअी भी वस्तु नहीं है। हम जो कुछ देखते या सुनते हैं, जो कुछ हमारे मनमें या अनुभवमें आता है वह सब जीवनके क्षेत्रमें आ ही जाता है। कल्पना-सृष्टि और आदर्श-सृष्टि भी जीवन-जगतके दो खंड ही हैं और अज्ञात अनन्त तो जीवन-जगतका क्षितिज कहा जा सकता है।

और मरणको क्या हम जीवनक्षेत्रके बाहरका समझेंगे ?

नहीं, हरगिज्ञ नहीं। मरण भी जीवन हीकी अक अत्कृष्ट विभूति है। जीवनमें जो कुछ अपूर्ण रह जाता है वह मरणमें पूर्ण और कृतार्थ होता है। मरण के बारेमें हम जरूर कह सकते हैं:—

येथें नाहीं भाली कोणाची निरास। आल्या याचकास कृपेविशीं ॥

(यहाँ तो चाहे जो याचक आ जाय, उसके कभी निराशा नहीं हुआ करती। सबके अपर उसकी अकसी ही कृपा रहती है।)

दिन और रात मिलकर जिस तरह पूरा दिन एक होता है उसी तरह जीवन और मृत्यु दोनों मिलकर सम्पूर्ण जीवन होता है। दिनके वक्त सर्वत्र सफेद अँधेरा फैला होता है और उसिलिये हम सिर्फ अक सूर्य और अक पृथ्वी तक ही देख सकते हैं। रातके वक्त काला निर्मल प्रकाश चारों ओर फैल जाता है जिससे आकाश खुला हुआ दिखाई देता है, विस्तृत मालूम होता है, उस प्रकाशमें हम अनेक पृथ्वियाँ और अनन्त सूर्य देख सकते हैं। रात्रिका वैभव दिनके वैभवकी अपेक्षा कअरी गुना अधिक होता है और उसीलिये अनन्त सूर्योंके दर्शन अक साथ होते हुआ भी हमें अुनमेंसे किसीका भी ताप सहना नहीं पड़ता। अनन्त कोटि सूर्य अकत्र चमकते हैं, फिर भी वह हमें शान्ति ही प्रदान करते हैं !

जिस तरह मनुष्य अपने बचपनमें स्कूलमें बहुतसे सबक सीखता है और बड़ा होनेपर व्यापक जीवनमें अुन्हें अपयोगमें लाता है या प्रयोगशालामें छोटे-छोटे प्रयोग करके बादमें लोक-व्यवहारमें अुन प्रयोगोंका विस्तार करता है, उसी तरह हम अपनी सारी आयुमें जो व्यक्तित्व और अध्यात्म आत्मसात् करते हैं उसीको मरणके द्वारा व्यापक और बृहत्तम बनाते हैं। उसीलिये अैसा कहा जाता है कि मरण तो जीवनका नया और अत्कृष्ट संस्करण है। जीवन और मरण मिलकर जो अक

बृहत्तम वस्तु बनती है असीको ब्रह्म कहा जाता है। असीसे अलग कुछ भी नहीं; असीसे असी कुछ भी नहीं। अनन्तसे अधिक असी क्या हो सकता है? अनन्तकी ओर देखनेके पहलू अनन्त होते हैं, लेकिन मूल वस्तु तो 'अकमेवाद्वितीयम्' ही है।

ॐकार प्रणव जिस तरह परब्रह्मका वाचक है असी तरह साहित्य भी जीवनका—सम्पूर्ण जीवनका—वाचक हो सकता है। अतिनी बड़ी प्रतिष्ठा साहित्यकी है। लेकिन असीकी साधना अत्यन्त सावधानीसे, अचित् दंगसे होनी चाहिये। जिस तरह मूर्तिकी प्राणप्रतिष्ठा करनेके बाद ही असीसे देवत्व प्राप्त होता है, असी तरह साहित्यकी प्राणप्रतिष्ठा करनेके बाद ही असीसे प्रणव-पूज्यता और वाचाशक्ति प्राप्त होती है। प्राणप्रतिष्ठा करना अक दैवी विद्या है, अमर-कला है। यह विद्या, यह कला जिसने प्राप्त की है असा कवि शायद ही मिलता है, कविका नाम धारण कर मुर्गेकी तरह छाती निकालकर अधर-अधर भटकने-वाले पामर जीव अनेक हैं। अनीकी तो हम बात ही छोड़ दें।

प्रतिभाशाली चित्रकार सृष्टि-सौन्दर्यको चित्रित कर असीसे स्थायी बनाता है। यों तो सृष्टि-सौन्दर्य हम अपनी आँखों देखते ही हैं, असीसे चित्रबद्ध करनेकी क्या जरूरत? ज्यादा से ज्यादा अकाध छाया-चित्रकार-(फोटोग्राफर)-की मदद लें तो काफी है। लेकिन चित्रकारका कार्य तो कुछ और ही है। वह यह सिखाता है कि प्रकृतिका सौन्दर्य आँखसे नहीं अपितु हृदयसे कैसे देखना चाहिये। प्रत्येक सृष्टिकी जगह वह प्रति-सृष्टिका निर्माण करता है। असीकी बनायी हुआ असी नवीन सृष्टिका जीवनमें अन्तर्भाव होनेपर भी वह साफ़तौरपर जीवनसे अलग ही दिखायी देती है; और नित्यके अनुभूत जीवनपर कुछ और ही अलौकिक प्रकाश डालती है। चित्रकार की प्रतिभा अन्तर्बाह्य विश्वको हृदयस्रोतमें शराबोर कर रसस्निग्ध बनाती है। असीलिये तो रसिकों की

दृष्टिमें चित्रकार तीर्थरूप बन जाता है। जिस तरहके अन्ध कोटिके चित्रकार दुनियामें बहुत ही कम हुआ है। नाम-मात्रके चित्रकार तो हर घरकी दीवारपर लटकते या प्रत्येक प्रकाशनके अंधेरेमें सोते हुआ दिखायी देते हैं।

सच्चा साहित्यकार सबकुछ नहीं सिखाता, बल्कि दृष्टि देता है। जिसीलिये शिक्षकके पदपर बैठे बिना ही वह गुरुस्थान प्राप्त करता है। किसी अंधेका हाथ पकड़कर अगर उसे हम एक कमरेमें ले जायें और वहाँकी प्रत्येक वस्तुका उसे स्पर्श कराके उस कमरेका परिचय दिला दें तो वह उसमें आसानीसे रह सकता है और अपना नित्यका व्यवहार भी चला सकता है। लेकिन अतना झंझट करनेके बजाय अगर हम उस अंधेको दृष्टि दे सकें तो ओके क्षण पूर्वका वह अंधा कमरेकी सभी वस्तुओंका मानो स्वामी बन जायगा। फिर तो उसे कमरेकी हर चीजका परिचय करानेकी जरूरत नहीं रहती। अब तो वह हमारा आश्रित नहीं, साथी बन गया।

साहित्यकी महिमा औसी ही है। साहित्य पाठ नहीं पढ़ाता, दृष्टि देता है। साहित्य जीवनका सिर्फ अद्दीपन है, रहस्योद्घाटन है, साक्षात्करण है।

हे साहित्यगुरो परमात्मन्, तेरे अवतारके सदृश ब्राह्मी साहित्यकार जिस दुनियामें भेज दे। दुनिया आपद्ग्रस्त है, उसे शान्ति प्रदान कर; उसे कृतार्थ कर।

—फरवरी १९३७

६

सौन्दर्यका मर्म

साहित्य की भाषा मानो अके बर्तन है । साहित्यका मूल्य अिस बातसे निर्धारित होता है कि हम अुस बर्तनमें किस किस्म का माल भरना चाहते हैं ।

कुछ लोग समझते हैं कि साहित्यकी सारी कल्पना अुसके रूप और सौन्दर्यपर रची हुआ है । कोअी भी विचार या कल्पना अगर आकर्षक रूपमें रखी हुआ हो, अुसमेंसे चमत्कृति पैदा होती हो तो वह साहित्य है । भारी से भारी मूल्यवान विचार या अनुभव और आसमानतक अुड़नेवाली कल्पना अगर रोचक रूपमें न रखी गयी हो तो अुसे हम साहित्य न कहेंगे । अुसे दर्शन कहो, धर्मशास्त्र कहो या सन्तवाणी कहो । अुसे आप साहित्य नहीं कह सकते ।

अिसके विपरीत अगर कोअी विचार बिल्कुल मामूली हो, कल्पना छिछली हो, आदर्श हलका और समाजविनाशक हो, लेकिन अगर वह मनोरंजन करता हो और अुसका स्वरूप चित्ताकर्षक हो तो वह अुच्च कोटिका साहित्य कहा जायगा । मनोविनोद, चित्ताकर्षण और रूपलावण्य ही साहित्यका प्राण है ।

अिसमें कोअी शक नहीं कि कोअी भी वाग्ज्यापार अगर चित्ताकर्षक रूपमें पेश न किया गया होता तो हम अुसे सरस साहित्यके तौरपर नहीं पहचानते, लेकिन अगर अुस साहित्यमें आया हुआ विचार हीन हो, अनुभव छिछला हो, और कल्पना सड़ी हुआ हो तो सिर्फ रूपपरसे ही हम अुसे अुत्तम साहित्य नहीं कहते ।

अब जरा रूपका स्वरूप जांच लें । कोअी भी युवक अथवा युवती शरीर और मनसे निरोग हो, व्यायाम, संयम तथा प्रस-

त्रतासे असने अपने यौवनकी अच्छी रक्षा की हो तो उसमें अपने-आप ही अमुक मात्रामें सौन्दर्य आ ही जाता है। यह सौन्दर्य साबुनसे, तरह-तरहके खुशबूदार तेलोंका अस्तेमाल करनेसे या नये ढंगके अनेक रंग और दवाइयां लगानेसे नहीं आ सकता। आरोग्य और यौवन स्वयं ही सुन्दर होता है। सुन्दरता और आकर्षकता उसकी सहज सुवास होती है। लेकिन अिसके विपरीत अगर शरीर बीमार हो, मन विकृत हो, स्वभाव स्वार्थी, चिड़चिड़ा या अहंप्रेमी हो और यह सब छिपानेके लिये कपड़ों की सजावट, शिष्टाचारकी तमीज और हालचालके नाज व नखरों द्वारा सौन्दर्य लाया गया हो तो कुछ भूखे लोग उस चमक दमकसे भले ही आकर्षित हो जायँ, लेकिन जानकार, स्वच्छ अभिरुचि रखनेवाले लोग यह सारा प्रयास देखकर दुखी ही होंगे, उनके मनमें ग्लानि ही पैदा होगी।

साहित्यका भी ऐसा ही है। साहित्य जीवनका प्रतीक है। जीवन अगर निरोग, प्रसन्न, सेवापरायण, प्रेमपूर्ण और पराक्रमी होगा तो उसके सभी व्यापार आकर्षक और प्रभावशाली होंगे। जिस विचारमें आर्यता है, अुदात्तता है, सर्व-मंगलकारी कल्याण की भावना है उसका शब्दशरीर आप ही आप भाव-गंभीर, ललित-कोमल और प्रसादपूर्ण होगा। अुच्च साहित्य सुन्दर होता ही है, लेकिन सजधज करनेसे कोअी साहित्य अुच्च या शिष्ट नहीं होता।

अिसलिये केवल साहित्यकी अुपासना करनेके बजाय अगर हम आर्य और प्रसन्न जीवनकी अुपासना करें तो साहित्यकी सुन्दरता स्वयं ही फूट निकलेगी। वृत्तिकी आर्यता ही शिष्टाचार या तमीजकी आत्मा है। निरा शिष्टाचार हास्यास्पद होता है या दिलको अुकता देता है। खोखली सौन्दर्योपासना अिससे अन्य कोअी असर पैदा नहीं कर सकती।

जिस साहित्यमें प्रगतिशील जीवनकी प्रेरणा अथवा प्रतिध्वनि हो वह साहित्य प्रगतिशील है। जैसे साहित्यमें और सब कुछ हो या न हो, अनुकरण तो हरगिज नहीं होना चाहिये। दूसरा कुछ हो या न हो, अद्देश्यका अभाव तो कभी नहीं होना चाहिये।

—जून १९३७

७

प्राचीन साहित्य

साहित्यकारोंने कविताकी तुलना कान्तासे की है। शास्त्रकारोंने कुटुम्बमें स्त्रीकी जिस प्रतिष्ठाकी कल्पना की है वही प्रतिष्ठा संस्कारी जीवनमें साहित्यकी भी है। जो समाज स्त्रीकी प्रतिष्ठाको भूल जाता है वह साहित्यकी कदर भी क्या करेगा ?

जो मनुष्य जीवन-भर व्रत-नियमादि किया करता है, उसे यह भान नहीं रहता कि हम कहां थे और कहां जा रहे हैं। उस के लिए भूत और भविष्य दोनों शून्य हैं। क्या हमारे टीकाकारोंका भी यही हाल हो गया होगा ? संस्कृत-साहित्यके रहस्यको प्रकट कर देनेवाले टीकाकार कम नहीं हैं। यदि साहित्यका कुरुक्षेत्र करना हो तो हमारे टीकाकारोंकी सेना अतनी बड़ी है कि वह जिस देशको चाहे हरा सकती है। परन्तु साहित्यको व्यापक दृष्टिसे देखना किसीको सूझा ही नहीं। जिस तरह कालिदास पुष्पक विमानमें बैठकर लङ्कासे अयोध्या तकके प्रदेशका निरीक्षण विहग-दृष्टिसे कर सके, अथवा यक्षपर दया करके वह हिमगिरिसे अलकापुरी तक मेघको भेज सके, उस तरह ओक भी टीकाकारको यह नहीं सूझा कि वह साहित्य-खण्डका समग्र अवलोकन करे। जिस तरह वीणा दस-पांच

मनुष्योंका ही मनोरञ्जन कर सकती है, उसका सङ्गीत किसी महासभामें व्याप्त नहीं हो सकता, उसी तरह टीकाकारोंकी दृष्टि भी अकेले सम्पूर्ण श्लोकके बाहर नहीं पहुँचती । ज्यादा-से ज्यादा यदि अन्होंने यह बता दिया कि नान्दीका श्लोक सम्पूर्ण नाटककी वस्तुओंको किस तरह सूचित करता है, तो वे कृतार्थ हो जाते हैं । हमारे साहित्य-मीमांसक भी जितनी गहराईमें अतुर सके हैं, अतने विस्तारसे नहीं देख सके । वे अकेले श्लोकके भीतर दस-पाँच अलंकारोंकी संसृष्टि सिद्ध कर सकते हैं, परन्तु यह बतलाना वे अपना कर्त्तव्य नहीं समझते कि अकेले सम्पूर्ण महाकाव्य या खण्डकाव्य किस तरह अकराग है और उसकी आत्मा किसमें है ? असका अपवाद-रूप अकेले जेमेन्द्र माना जा सकता है । अम काश्मिरी महाकविने अलंकार और रसोंके बाद औचित्यका महत्व बतला दिया है । असने अकेले ही कविके अकेले ही श्लोकका रस निचोड़नेके बदले संस्कृत-साहित्यके बत्तीस विख्यात कवियोंकी भिन्न-भिन्न काव्य-कृतियोंको लेकर उनके गुण और दोषोंकी विवेचना की है । यह निष्पन्न कवि दोषोंको बताते समय अपने दोषोंको भी ध्यानमें लाना नहीं भूला । तथापि यह कल्पना तो जेमेन्द्रको भी नहीं सूझी थी कि अकेले सम्पूर्ण नाटक अथवा काव्य लेकर उसके रहस्यकी खोज की जाय । असकी दृष्टि से औचित्य था—

पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलंकरणे रसे ।

क्रियायां कारके लिंगे वचने च विशेषणे ॥

उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते ।

तत्त्वे सत्त्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सार-संग्रहे ॥

प्रतिभायामवस्थायां विचारे नाभ्यधाशिषि ।

काव्यस्यांगेषु च प्रादुरौचित्यं व्यापि जीवितम् ॥

अतनी ही जगहोंमें 'औचित्य-विचारकी चर्चा' करके कवि

रुक गया है। रवीन्द्रनाथने हमें साहित्यकी ओर देखनेकी ओक नञ्जी दृष्टि दी है।

जैसे नाटक काव्यका निष्कर्ष है, उसी तरह कवि भी सामाजिक जीवन, राष्ट्रीय आकांक्षा, जातीय आदर्श अथवा प्रजाकी वेदनाओंकी स्वयंभू मूर्ति है। जब कोई भट्टनारायण 'वेणी-संहार' लिखता है, तब द्रौपदीका क्रोध, भीमकी प्रतिज्ञा, कर्णका मत्सर और अश्वत्थामाकी जलनका चित्र खींचनेके बाद वह राष्ट्रीय अुत्थान और पतनकी मीमांसा भी अपने ढंगसे करना चाहता है। जब कालिदास 'रघुवंश' लिखने बैठते हैं तब रघुके कुलकी ही नहीं किन्तु अखिल आर्य-संस्कृतिकी प्रकृति और विकृतिको अंकित कर देना चाहते हैं।

हमारे कवियोंकी कृतियोंकी ओर ऐतिहासिक अथवा सामाजिक दृष्टिसे देखनेकी वृत्ति भले ही पश्चिमी लोगोंने हमें सुझाई हो, परन्तु रवीन्द्रनाथका आर्य-हृदय तो संस्कृति-साहित्य की ओर आर्य-दृष्टिसे ही देख सका है। जिस प्रकार एक समर्थ चित्रकार केवल दस-पांच लकीरोंसे ही सम्पूर्ण चित्रको सूचित कर सकता है उसी तरह रवीन्द्रनाथने भिन्न-भिन्न प्रसंगोंपर लिखे हुए पांच-सात स्तुट निबन्धोंसे ही यह सब दिखा दिया है कि संस्कृत-साहित्य क्या है, संस्कृत कवि का हृदय कैसा है, हिन्दुस्तानका अतिहास किस पुरुषार्थको लेकर बैठा है, अित्यादि। संस्कृत कवियोंमें ऐतिहासिक दृष्टि भले ही न हो, परन्तु अुनमें ऐतिहासिक हृदय तो अवश्य है। सामाजिक सुख-दुःखोंकी प्रतिध्वनि अुनके हृदयोंसे जरूर अुठती है। राष्ट्रके अुत्कर्षके साथ बेआनन्दित होते हैं और अुसकी मूर्छाके साथ मूर्छित। लोगोंका अधःपात देखकर उनका हृदय रोता है, और जब ऐसा होता है तब वे प्रेमभरे और मनोहर वचनोंसे समाजको सचेत करना चाहते हैं।

जहां शास्त्रका बस नहीं चलता, जहां नीतिशास्त्रकार 'अधूर्व-बाहुर्विरौम्येप न च कश्चिच्छृणोति मे' अिस तरह अरण्यरोदन करते हैं, वहां कविजन अपनी सहृदयतासे समाजके हृदयको जागृत करके समाजको उन्नतिके मार्गपर ले जाते हैं। मनु, याज्ञवल्क्य, पाराशर और अुनकी जातिके अनेक स्मृतिकार समाजपर जो असर नहीं कर सके, वह असर लुटेरोंका प्रमुख वाल्मीकि अेक अमर काव्य-द्वारा कर सका है। श्री शंकराचार्य ने प्रस्थानत्रयीपर भाष्य लिखकर जो दिग्विजय प्राप्त किया, उससे कहीं बढ़कर दिग्विजय षट्पदीके समान सुन्दर स्तोत्रोंको लिखकर उन महा-परिव्राजकाचार्यने प्राप्त किया है। शंकराचार्य को शास्त्रार्थ करते समय खण्डन-मण्डन-द्वारा विरोधियोंकी बुद्धिपर हठ-पूर्वक विजय प्राप्त करनी पड़ी, परन्तु जब वे परम-हंस अपने सुन्दर स्तोत्रोंका आलाप करते होंगे तब लोक-हृदय स्वेच्छासे, राजी-खुशीसे पिंजड़ेमें आगया होगा। अैसे कवियोंका हृद्गत भाव प्रकट करनेके लिए अुनके समान ही समर्थ कवियोंकी आवश्यकता थी। बारह वर्ष व्याकरण रटकर, दूसरे बारह वर्ष तक न्याय-शास्त्रके छिलके छीलनेके बाद साहित्य-शास्त्रकी 'सर्जरी' सीखकर तैयार हुए टीकाकारोंका वह काम नहीं।

वाल्मीकि, भवभूति, भास और कालिदास जैसे कवियोंने रवीन्द्रके समान समालोचकको पाकर 'अद्य मे सफलं जन्म अद्य मे सफलाः क्रियाः' कहकर अुसी तरहकी कृतार्थताका अनुभव किया होगा जो न्यूटन और केप्लरका जन्म होनेपर ब्रह्मदेवको अपनी सृष्टि रचनापर हुआ होगी। काल निरवधि है और पृथ्वी विपुला है यह हमारे कवियों की श्रद्धा रवीन्द्र-जैसे समान-धर्मात्माको देखकर चरितार्थ हुआ होगी।

जब पुराने टीकाकारोंने हमें आवश्यक दृष्टि नहीं दी, तब

हमारे पाश्चात्य पण्डितमन्य अध्यापकोंने हमें अुल्टी ही दृष्टि दी। अुन्होंने यही पाठ पढ़ाना शुरू किया कि यूरोपियन आदर्शानुसार हिन्दी अतिहासमें कुछ भी नहीं, यूरोपियन शिष्टाचार के अनुसार हिन्दी-काव्य हमेशा तुच्छ समझे जायेंगे; अितना ही नहीं वरन् 'क्षेमं केनचिर्दिदुपाण्डुतरुणा' के समान श्लोकका जिस समाजमें निर्माण हुआ, जिस समाजने किलोंकी दीवारोंमें नहीं, किन्तु वन-उपवनकी गोदमें ही परवरिश पायी है, अुसी समाजके कवियोंको निसर्ग निहारनेको नेत्र नहीं हैं, अैसा कहनेकी भी ढिठाई करने में वे और अुनके शिष्य नहीं हिचकते ! हबशी मनुष्य जबतक अपना-सा रंग और अपनी-सी नाक तथा हाँठ किसीके नहीं देखते तबतक उसे कभी सुन्दर नहीं मानते ।

हिन्दुस्तानका अतिहास अुज्ज्वल है, व्यापक है और रहस्यपूर्ण है। पर वह यूरोपियन अतिहाससे बिलकुल भिन्न है। रवीन्द्रनाथने हमें बतलाया है कि वह सरकारी तहखानों और त्वारीखोंमें नहीं बल्कि अुस देशके साहित्य आदिमें मिल सकता है जहाँ राष्ट्रीय-जीवन सजीव रूपमें विद्यमान है। हमारी रंगभूमि तरह-तरहके अपकरणोंसे ब्लाइट वे लेड लॉ' कम्पनीके 'शोरूम'का प्रदर्शन नहीं करती; अिसका कारण हमारा जंगलीपन नहीं, परन्तु वह सर्वोच्च अभिरुचि है, जो यूरोपियन टीकाकारोंकी कल्पनामें भी नहीं आसकती। पर हमें यह समझाना भी रवीन्द्रनाथके ही नसीबमें बड़ा था। हम नहीं जानते कि कालिदास का मेघ दूत के सन्देश को अलकापुरी ले गया था या नहीं; किन्तु रवीन्द्रनाथने तो अुसीको अपना दूत बनाकर अुसके द्वारा हमें प्राचीन समयके भारतका साक्षात्कार कराया है। राष्ट्रीय हृदय जिसे स्वीकार करता है, वह काव्य अतिहासके पदको प्राप्त कर सकता है। यह अुन्होंने रामायणकी मीमांसा करके

सिद्ध किया है। जिस तरह अनेक पद्धतियोंसे अन्होंने संस्कृत साहित्य का अदुघाटन किया है।

परन्तु रवीन्द्रनाथकी प्रतिभा संपूर्णरूपसे प्रकट हुई है, अन्के कुमार-सम्भव और शाकुन्तलपरके निबन्धोंमें। जर्मन कवि गेटेकी अक-श्लोकी टीकाको लेकर कवीन्द्र चले हैं और अन्होंने अपनी अलौकिक शक्तिसे यह सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि किस तरह शाकुन्तल कालिदास की सम्पूर्ण कृति है। शेक्सपियरके टेम्पेस्टके साथ शाकुन्तलकी तुलना करके शेक्सपियरके मुक्ताविलेमें अन्होंने कालिदासकी अभिरुचि की श्रेष्ठताको प्रकट करनेका मौका भी बड़ी अच्छी तरह लेलिया है। शाकुन्तलापर लिखा अन्का निबन्ध एक अपूर्व योग है। कालिदास, गेटे, शेक्सपियर और रवीन्द्रनाथअिन चार प्रतिभा-संपन्न, विश्वविख्यात-महाकवियों का कण्वाभ्रममें सम्मिलित होना यह कुछ सामान्य वस्तु नहीं। कवियोंकी वाणीमें कल्पनाओंके चाहे जितने ऋवारे अड़ते हों, तो भी वह वाणी खाली कल्पनामय नहीं होती। यह बात तो रवीन्द्रनाथने ही सबसे पहले अितनी सम्पूर्णतासे प्रकट की है। अन्होंने बताया कि अ्समें तो ब्यक्तिगत या सामजिक जीवन-रहस्य का तत्त्वज्ञान होता है; समाज-शास्त्र और धर्मशास्त्र, नीति-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र अिनके अन्तिम सिद्धान्तोंको तर्ककी दस्तंदाजी और गड़बड़से बचाकर कविजन अपनी अपूर्व प्रतिभासे अन्हें अनुप्राणित करते हैं और जीवनके समान अक सम्पूर्ण और सजीव कृतिका निर्माण करते हैं। 'जो यहाँ है सो वहाँ है, जो वहाँ है सो यहाँ है, सारी सृष्टि एक-रूप है', ऋषियोंके देखे हुए अिस सिद्धान्तको कविजन हमारे सम्मुख मूर्तिमान खड़ा कर देते हैं। संस्कृतमें 'कवि' शब्दसे जो भाव मनमें अुत्पन्न होते हैं वे अंग्रेजीमें 'पोएट' शब्दसे नहीं होते। कवि अर्थान् दृष्टा, जो जीवन-रहस्यको

देखता है, जिसे अिह और पर सृष्टिदोनों अेक-सी प्रत्यक्ष हैं, जो अतिवाद में अुतर सकता है। जो अिस संसार में रहते हुआ भी अिस संसारका नहीं, वही कवि है। जो चर्म-चक्षुको दिखाअि नहीं देता, जिसका आकलन तर्क-दृष्टिसे नहीं होता, और जिसके लिए व्यावहारिक संसारमें प्रमाण नहीं मिलता अैसे अतीन्द्रिय, सूक्ष्म और स्वसंवेद्य अनुभवोंका सम्पूर्ण साक्षात्कार करके अुन सब अनुभवोंको शब्द अथवा वर्णके समान मर्यादित साधनोंद्वारा दूसरोंके लिअे भी प्रत्यक्ष कर सकता है वही कवि है। कवि वे हैं जो अिस सृष्टिको—अिस वाह्य-सृष्टि और अन्तः-सृष्टिको—आधार-स्वरूप आश्वरीय योजनाका, आश्वरी लीला और आश्वरी आनन्दका साक्षात्कार कर सकते हैं। वैदिक ऋषि जब आश्वरी-स्तुतिकी अर्मिके शिखरपर पहुँच जाते हैं तब परमेश्वरको ही 'कवि' कहकर पुकारते हैं, अिस सृष्टिको आश्वरका काव्य कहते हैं। अिसीलिए कविका सीधा अर्थ निश्चित होता है सृष्टिका रहस्य जानने वाला। कालिदासने जीवनके रहस्यको किस तरह पहचाना था यह नुतो मल्लिनाथने जाना, और न जाना राघवभट्टने। अिस रहस्यको जान सके गेडे या रवीन्द्रनाथ ही।

कवियोंकी कृतियों पर टीकाकार तो बहुत हो गये हैं, परन्तु 'काव्येर अपेक्षिता'में रवीन्द्रनाथने जो रसिकता और दान्तिण्य बतलाये हैं वे तो अपूर्व ही हैं। 'काव्येर अपेक्षिता' अेक असाधारण टीका है। पर वह अुतना ही अप्रतिम काव्य भी है। रवीन्द्रनाथ अेक भी दूसरा निबन्ध न लिखते, केवल यही अेक निबन्ध लिख देते तो भी साहित्य-रसिकोंको अुनकी काव्य-शक्तिका पूरा-पूरा पता लग जाता।

मार्मिक पाठकके लिये यह जान लेनेके लिये किसी भारी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है कि 'चोखेर बाली' तथा 'नौका

हूबी' असी कविके लिखे हैं जिसने 'काव्येर अपेक्षिता'में पत्र-लेखोंका विवेचन किया ।

जो यह कहते हैं कि हमारे कवि सृष्टिका निरीक्षण करते ही नहीं अन्हीं पुरानी अपमाओं को दोहराते चले जाते हैं, वे न तो स्वयं ही सृष्टिका निरीक्षण करते हैं और न काव्यका परीक्षण । यदि वे टीकाकार रवीन्द्रनाथका वह निबन्ध पढ़ेंगे, जिसमें उन्होंने कादम्बरीका दर्शन कराया है, तो अवश्य उनका भ्रम दूर होजायगा । साहित्यकार जो बाणभट्टकी कादम्बरीको नारिकेल-पाक कहते हैं, उसका यह बढ़िया अनुदाहरण है । बाणभट्टके काव्य कान्तारमें गेंडेके समान अकुतोभय संचार तो वही कर सकते हैं, वन-बराहके समान वहाँ मुस्ताक्षति भी वही कर सकते हैं, हरिणोंके समान कल्पना-तृणांकुरोंको अर्ध-विलीढ़ करके अतिस्ततः वही फेंक सकते हैं, अथवा अभिनवमधु-लोलुप भ्रमरके समान वे ही वहा स्वेच्छा-विहार कर सकते हैं । जिन्होंने हिमालय के समान पर्वत और मेघना या पद्माके समान नदियां देखी हैं, अथवा जिन मनुष्योंने पुष्प, पक्षी तारे और लड़कोंके साथ खेलनेमें बरसों व्यतीत कर दिये हैं । संस्कृत-साहित्यमें अंतःसृष्टि और बाह्यसृष्टिका जो सारूप्य और तादात्म्य है, उसका सम्पूर्ण दायित्व रवीन्द्रनाथको मिला है । असीसे कालिदास (बाणभट्ट और वाल्मीकि के समान कविजन पुत्र-संक्रात-लक्ष्मीक पिता के समान कृतार्थ हो गये हैं ।

जबसे हिन्दुस्तानमें 'यूनिवर्सिटी' स्थापित हुई तबसे प्रत्येक ग्रन्थका बहिरंग-परीक्षण करनेकी प्रणाली बहुत ही बढ़ गई है । काल-निर्णय, पाठ-भेदकी मीमांसा, प्रक्षिप्तवाद खड़ा करना यह तो हम खूब सीख गये हैं, और यदि अनेक ग्रन्थकारके नाम पर अनेक ग्रन्थ हों तो हम यह भी अनुमान करने लग गये हैं कि अनेक ही नामके अनेक लेखक हो गये होंगे, और अनेक ग्रन्थों

के लेखक भिन्न-भिन्न होंगे। सत्यान्वेषणकी दृष्टिसे और ऐतिहासिक दृष्टिसे भी यह सभी आवश्यक और महत्त्वपूर्ण तो जरूर हैं। परन्तु यदि हम बगीचेकी लम्बाई, चौड़ाई, उसके भीतर-के वृक्षोंकी तफसील और गिनती आदि अपूरी बातोंकी ही जानकारी करनेमें सम्पूर्ण समय लगा देंगे और फूलोंकी सुगन्धि और फलोंका स्वाद लेना भूल जायँगे, तो दुष्यन्तके समान रसिक हमें अवश्य कहेगा कि, 'इन्द्रियैर्वञ्चितोऽसि'।

आज हम शिक्षाका आदर्श और शिक्षाकी प्रणालीमें परिवर्तन करना चाहते हैं। पाश्चात्य आदर्शको गुरु-स्थानमें रखकर अुस गुरुदृष्टिसे संस्कृत-साहित्यकी खोज करना हम नहीं चाहते। हम अपने प्राचीन कवियोंके समीप शिष्य-भावसे समित्पाणी होकर जाना चाहते हैं। आस्तिक जिज्ञासासे अुनसे प्रश्न करना चाहते हैं। अैसे अवसर पर संस्कृत-साहित्यके विषयमें वह जान लेना परमावश्यक है, जो हमारे अुस कवि-सम्राटने, जिसके लिअे हमें अभिमान है, कहा है।^१

८

पत्रकारकी दीक्षा

अिस परिषद्के सामने कोअी निबन्ध पेश करनेका अधिकार मुझे है या नहीं अिसका मैं विचार कर रहा था। अैसा लगता है कि अधिकार है भी, और नहीं भी। कअी साल हुए, देश-विदेशके अखबार मैं दिलचस्पीके साथ पढ़ता था। पत्रकारके कार्य और कर्तव्यके विषयमें सोचता आया हूँ। वंगभंगके बादके राष्ट्रीय आन्दोलनमें पहले महाराष्ट्रके अेक स्थानीय

^१ कवीन्द्र रवीन्द्रके 'प्राचीन साहित्य'के गुजराती अनुवादकी भूमिका।

साप्ताहिक पत्रके साथ और बादमें अेक दैनिक पत्रके साथ मैंने अत्यंत निकटका संबन्ध रखा था । अिस वक्त की जनजागृति और आत्मशुद्धिके आन्दोलनमें भी 'नवजीवन' जैसे पत्रके साथ मेरा अुतना ही निकटका सम्बन्ध हो गया । और अगर अैसा कहूँ कि अिन दो आन्दोलनोंके बीचके लम्बे अरसेमें विचार और कलमका ब्रह्मचर्य-पालन भी मैंने किया था, तो अुसमें अतिशयोक्ति न होगी । अिस तरह कहा जा सकता है कि पत्रकार-परिषद्के समक्ष अपने विचार रखने का अितना अधिकार मैंने प्राप्त किया है । लेकिन यह भी सही है कि आजकल पत्रकारके व्यवसायका जो आदर्श बन रहा है अुसको दृष्टिके सामने रखते हुअे अिस धंधेके लिये आवश्यक योग्यता अपनेमें लानेकी अिच्छा किसी दिन मेरे मनमें पैदा न हुअी । मुझे पहलेसे ही अैसा लगता आया है कि पत्रकारकी अपेक्षा शिक्षाशास्त्रीका कार्य अधिक अुपयेगी है । अिसलिये पत्रकारके लिये आवश्यक योग्यता मुझमें आयी ही नहीं । पत्रकारके लिये आवश्यक अेक गुण ही यह मुझे निबन्ध लिखनेकी प्रेरणा देता है । पत्रकार प्रधानतया विचार-प्रचारक होता है । विचारका प्रचार करनेकी, विचार 'ब्रॉडकास्ट' करनेकी वृत्ति कहिये या खाज कहिये-पत्रकारमें जितनी होती है अुतनी शायद ही किसी दूसरे में होगी । धर्मोपदेशक और अध्यापक में भी यह वृत्ति न्यूनाधिक मात्रामें जरूर होती है ।

वास्तवमें देखा जाय तो धर्मोपदेशक, पत्रकार और शिक्षाशास्त्री तीनोंका कार्य लगभग अेकसा ही है । सोयी हुअी जनता जब जागना चाहती है अुस वक्त तो पत्रकारके पदको असाधारण महत्त्व और अुत्तरदायित्व प्राप्त होता है । पत्रकार यानी लोकशिक्षाका आचार्य, ब्राह्मणोंका ब्राह्मण और चारणोंका चारण है ! जनता जब युयुत्सु हो जाती है तब कअी बार पत्रकारको

सैनिक और सेनापति भी बनना पड़ता है और अच्छी तरह क्षात्रधर्मकी भी तालीम लेनी पड़ती है। जहां-जहां अन्याय होता हो, जहां-जहां दीन-दुर्बल और मूक वर्गोंपर जुल्मो-सितम ढाया जाता हो वहां-वहां 'क्षतात्किल त्रायते' के अपने विरुद्धका स्मरण कर पत्रकार कूद पड़ता है। जब ऐसे अवसर नहीं होते तब विचार, जानकारी, संस्कार, अभिरुचि और आदर्शोंकी प्याअ चलाकर वह समाजसेवक बन जाता है। अज्ञान या अदूरदृष्टि के कारण लोग जहां लड़ते होंगे वहां 'ज्ञानांजनशलाकया' लोगोंकी दृष्टिको शुद्ध करनेकी वह कोशिश करता है। समाजचक्रके पहिये जब अपना अंकराग (Harmony) भूलकर चीत्कार करने लगते हैं तब अचित स्थानपर स्नेह डालकर वह अस घर्षणको दूर करता है, और जब-जब सरकार-दरबारके मौके आते हैं तब-तब वह जनताका प्रतिनिधि बनकर लोकमतको अंकेधारा बनाकर लोकशक्तिको सचेत करता है। अिस तरह लोकसेवक, लोक-प्रतिनिधि, लोकनायक और लोकगुरुकी चतुर्विध अपाधि पत्रकार प्राप्त कर सकता है।

आजकलके वैश्ययुगमें पत्रकारका अंके और ही आदर्श बन रहा है और वह शिष्टसम्मत भी हो रहा है। 'हमारे सामने धर्मकी बातें मत किया करो, हम सिर्फ ब्यवहार जानते हैं; आदर्शोंके तारस्वरमें गानेको लोगोंसे मत कहो, मध्यम या मन्द स्वरमें जो कुछ गवाना हो वही गानेको कहो; हमसे साधु या वीर बननेकी अपेक्षा मत रखो बल्कि हमें ऐसी ही बातें सुभाओ जो नफा और नुकसानका हिसाब करनेवाले कुटुंबोंको पसन्द आये' या अनुकूल हों। दुनिया हमारी है। वीर और साधु लोग समाजके लिये शोभारूप तो हैं, लेकिन वह पगड़ी नहीं, बल्कि असकी किनारीपर की हुआ पञ्चकारीकी तरह हैं।' अिस आदर्शको स्वीकार करनेवाले लोग कहते हैं, 'पत्रकारको अपने आदर्श-

का मान व्यर्थ ही अँचा नहीं रखना चाहिये । लोग जो कुछ चाहते हैं उसे मुहैया करना ही पत्रकारका आदर्श होना चाहिये । लोगोंके हम कोश विद्यागुरु तो हैं नहीं कि अन्हें मारपीट कर पढ़ायें । हम तो लोगोंके खिदमतगार हैं । ग्राहकोंको जिस मालकी जरूरत होगी वह देकर अन्हें खुश रखना ही दूकानदारका आदर्श है । गायकका आदर्श तो यही है कि राजा जो राग चाहे वह गाकर उसका रंजन करे । लोग हमारे शिष्य नहीं, सेठ हैं । जो सेठको सिखावन देने जाय वह नौकर कैसा ? ग्राहकको जो धर्मशास्त्र या संयम सिखाने लगे वह दूकानदार कैसा ?

यहांतक आगये तो फिर ऐसी दूकानदारीका ही ज्ञान आगे चलता है । दूकानदार जिस बातका खयाल हमेशा नहीं करता कि ग्राहकको कौनसा माल चाहिये । बल्कि वह तो जिसी बातका ध्यान रखता है कि अपने पास पड़ा हुआ माल ग्राहकको कैसे आवश्यक मालूम हो । वह अपने ग्राहकको सेठ मानने के बजाय शिकार मानता है और दुनियाको नीचे खींचता है । उत्तर भारत में आज क्या चल रहा है ? कच्ची पत्रकार खालिस लड़ाई-भगड़े के दलाल बने हैं । अन्होंने निंदाके शराबखाने खोले हैं, राष्ट्रीय आपत्ति तथा साम्प्रदायिक गलतफहमियोंकी पूँजीपर वह तिजारत करना चाहते हैं । लोककथामें जिस तरह गांवका बकवादी अके प्रधान पात्र होता है उसी तरह यह पत्रकार समाजके महापिशुन बनकर विचरते हैं । शेक्सपियरके आयागोने आँथेल्लो और डेस्डिमोनाकी जो हालत कर डाली थी वही हालत ये लोग जिस भोले राष्ट्रकी करनेको तैयार हो गये हैं । फर्क अतना ही है कि आयागी अपने धंधेका स्वरूप और परिणाम भली भाँति जानता था और जानबूझकर बदमाशी करता था । अिन सबकी स्थिति वैसी नहीं है । यह अभागे भात्री स्वयं ही विकारमत्त हुआ है और यादवी (आपसी लड़ाई) के यादबोंका अनु-

करण कर रहे हैं।

पत्रकारकी वृत्ति अैसी खाजवाली नहीं होनी चाहिये कि जो कुछ मालूम हुआ, जाहिर कर दिया। अच्छे खानदानके मनुष्यके पेटमें कअी चीजें रहती हैं। लेकिन कुछ बातोंमें वह होंठ तक नहीं हिलाता। पत्रकारको कार्यानन्द खोजना चाहिये, न कि वादानन्द। वरना कलमकी पटाबाजी अेक बार शुरू हो गयी तो फिर सारी दुनियाका संहार हो जायगा। बिलायतमें तो जब आन्दोलनों और चर्चा-विषयोंका अकाल पड़ जाता है तब पत्रकार अेक दूसरेके खिलाफ अमद्र टीका कर अेक दूसरे पर जीवित रहते हैं। “भिक्षुको भिक्षुकं दृष्ट्वा श्वानवत् गुर्गुरायते !”

सौभाग्यसे गुजरातमें अखबारवाले सज्जनताकी मर्यादा शायद ही लांघ जाते हैं। गुजरातके पत्रकार सौम्य हैं, झगड़ालू नहीं हैं। अैसा भी कहा जा सकता है कि वे झगड़ोसे कुछ भागते-से हैं। असलिये समाज अेक बुराअीसे बच गया है। लेकिन यह कहना मुश्किल है कि यह वादविमुखता गुणरूप ही है। सामाजिक जिम्मेदारीको पहचाननेवाली प्रखर समालोचना-के अभावमें राष्ट्रीय आन्दोलनमें तथा साहित्योद्यानमें कँटीले और बेकार भाड़भंखाड़ बेहद बढ़ने लगते हैं। प्रत्येक सुन्दर आदर्शकी कमजोर नकलें समाजमें फैलती हैं। जिस तरह रवि-वर्माके चित्र दियासलाअीकी डिवियों पर भी छपते हैं अुस तरह हीन और हीनतर नकलें फैलने लगती हैं और असली चीजका गला घोटती हैं। ‘तू मुझे कालिदास कह, मैं तुझे भवभूति कहूंगा’ अस तरह ‘अहो रूपम् अहो ध्वनिः’ चलता है और समाज में आदर्श चढ़ने ही नहीं पाते। जहाँ देखो वहाँ अल्प-सन्तोष। असके कारण विचारशुद्धि, भाषाशुद्धि, कार्यशुद्धि तो दूर रही, लेखनशुद्धि भी नहीं रखी जाती। मतभेदके कारण आनेवाली

विविधता अधिक नहीं होती और वह बाधक भी नहीं होती । आज तो सर्वत्र अनवस्था है ।

मुझे ऐसा लगता है कि आलोचना करनेका मैं अधिकारी नहीं हूँ । इसलिये इस बातको यहीं छोड़ देता हूँ और कुछ ऐसी ही सूचनाओं पेश करता हूँ जो पत्रका संचालन करने में कामकी साबित हों ।

२

अखबार प्रधानतया वृत्तपत्र होता है । जनता के लाभका विचार करके सारी दुनियाकी खबरें देना पत्रकारका प्रथम कर्तव्य है । लेकिन इस बारेमें—और अत्यन्त महत्त्वके बारेमें—हमें औरों की आँखोंसे देखना पड़ता है । आंकड़े (Statistics) जिस तरह सरकारसे ही मिल सकते हैं उस तरह जानकारी तो 'रॉयटर' या 'ऐसोसिएटेड प्रेस' से ही मिल सकती है । वह अपनी ही दृष्टिसे महत्त्वकी खबरें हमें दे देते हैं और धीरे-धीरे किस वस्तुको कितना महत्त्व देना, किस सवालको किस दृष्टिसे पेश करना आदि विषयोंमें अपनी दृष्टि हमारे ऊपर लादते हैं । शिक्षा और साहित्यकी तरह वृत्तविवेचन (Journalism) में भी हम विदेशियोंके अनुयायी हो गये

१ Journalism के लिये हमारे यहां अभी कोअी श्रेक शब्द रूढ़ नहीं हुआ है, यह आश्चर्य की बात है । इसके लिये ऐसा शब्द चाहिये जिसमें दैनिक पत्रोंसे लेकर मासिक, त्रैमासिक, वार्षिक पत्रिकाओं तकके सभी अखबार और उनमें आनेवाली छोटी-छोटी खबरोंसे लेकर गंभीर चर्चा तक सब कुछ समा सके । अपने यहाँ 'जनता-जीवनकी घटना' के अर्थमें 'लोकवृत्त' श्रेक पुराना और विपुलार्थवाही शब्द है । इसमें जनताजीवनके सभी अंग आ जाते हैं । इसपरसे जर्नालिज्मको 'लोक-वृत्तविवेचन' या संक्षेपमें 'वृत्तविवेचन' कह सकते हैं । जहाँ-जहाँ 'जर्नालिज्म' शब्दका प्रयोग होता है वहाँ-वहाँ यह शब्द ठीक बैठता है ।—ले०

हैं। अस्सके कारण आयी हुआ पर-प्रत्यय-नेय-बुद्धि (स्लेव मेन्टै-लिटी) अभी नहीं गयी है। आज हमारे यहाँ अनेक पत्र बन गये हैं और विचार-प्रगति नहीं हो रही है। अस्समें अस्स पर-प्रत्ययके अवलंबनका कम हाथ नहीं है। और आश्चर्य यह है कि स्लेव मेन्टैलिटीके खिलाफ आवाज सभी बुलन्द करते हैं। वृत्तविवेचनका मूल आधार विश्वासपात्र खबरें हैं। अस्सका तंत्र हमने बनाया ही नहीं है। बुनियादमें ही परावलंबन !

जब मैंने अंग्रेजी पढ़ना शुरू किया तब चार आनेमें 'टाइम्स आफ् इंडिया' मिलता था जिसे पढ़नेकी मैं कोशिश करता था। हिन्दुस्तानकी सभी खबरें पढ़ जानेके बाद मुझे ऐसा लगता कि क्या हिन्दुस्तानमें सिर्फ अंग्रेज ही रहते होंगे ? क्योंकि सरकारी अधिकारियों और गोरोंके सार्वजनिक और सामाजिक जीवनकी खबरें ही अस्समें ज्यादातर आती थीं। मारपीट और हादिसों के जिक्र आते तभी मालूम पड़ता कि गोरी तहके नीचे नेटिव लोगोंका काला समुद्र भी है। अस्समें आश्चर्यजनक या अनुचित जैसा कुछ भी नहीं कि अंग्रेजी अखबार वही बातें देंगे जो गोरोंकी दृष्टिसे महत्त्वकी हों। अगर हम अपना जीवन विकसित करना चाहते हों तो हमें अपनी निजी दृष्टिसे जानकारी देनी चाहिये। मालूम होता है कि बंगाली लोगोंने यह कला कुछ-कुछ सीख ली है।

अपने वृत्तविवेचनमें हम अंग्रेजी पढ़ो हुआ दुनियाका ही खयाल रखते हैं। सरकार और अस्सकी करतूतें, विदेशके साथका व्यापार, अंग्रेजी शिक्षा, अदालतें, विद्वानोंका साहित्य और पढ़े-लिखे वर्गके सुख-दुख यही हमारे वृत्तविवेचनके प्रमुख विषय होते हैं। हिन्दुस्तान की जनता, हिन्दुस्तान की कलाओं और कारीगर, किसानोंका जीवन, गाँवोंकी स्थिति, धर्म-प्रचार, गरीबोंका गृहजीवन, परिगणित जातियोंकी अड़चनें, आदि राष्ट्रीय जीवनके प्रधान प्रश्नोंको आवश्यक प्रधानता हम

देते ही नहीं। स्थानीय वृत्तपत्र का ओक भी अच्छा नमूना हमारे सामने नहीं है। हमारे संवाददाता देहातों में जाते ही नहीं। वास्तव-में हालत तो ऐसी होनी चाहिये कि प्रत्येक वृत्तपत्र गाँवों के निवासियों में से समभाव वाले कुछ संवाददाता खोजे, उन्हें उस कला-की धीरज के साथ शिक्षा दे और ग्रामीण जीवन की चर्चा में दिल-चस्पी ले। जिस तरह हमारी सभाओं में शहरवासी अध्यासन पर बैठते हैं और बेचारे ग्रामप्रतिनिधि अपनी स्वाभाविक विनय धारण कर दूर कोने में किसी जगह बैठ जाते हैं, उस तरह अखबारों में भी लोकजीवन को ओकाध कोना ही मिल जाता है और वह भी हमेशा नहीं मिलता। यह सही है कि जब ग्रामवासी आत्म-निंदा छोड़कर अपने में स्वाभिमान और आत्म-प्रत्यय का विकास करेंगे तभी यह हालत सुधरने वाली है। लेकिन फिर भी इस दिशामें अखबार प्रारंभ और मदद तो जरूर कर सकते हैं। रेल्वे कंपनी तीसरे दर्जे की ओपेक्षा भले ही करती हो, लेकिन पत्रकार तो ग्राम-जीवन की, जहाँ कि ओनके चालीस फीसदी ग्राहक रहते हैं, ओपेक्षा बिलकुल नहीं कर सकते। प्रतिष्ठित और जिम्मेदार अखबार इस दिशामें लापरवाही बरतेंगे तो ओनकी खैरियत भी नहीं है। यह देखकर, कि जनता में अस्मिता आती जा रही है, कुछ त्वरित दृष्टि पत्रकार ओपढ़ वर्गों की खुशामद कर ओन्हें चाहे जिस रास्ते से ले जाकर ओनी प्रतिष्ठा जमायेंगे, और सच्ची प्रजा की शक्त के ये गैर-जिम्मेदार सरदार देश में कौनसा ओत्पात न मचा सकेंगे ? नतीजा यह होगा कि प्रतिष्ठित नेताओं को आखिर ओसे लोगों को भी प्रतिष्ठा की मंजूरी देनी पड़ेगी और ओनके साथ किसी तरह का समझौता करना पड़ेगा। अज्ञानी जनता गैर-जिम्मेदार लोगों के नेतृत्व में फंस जाय तो सरकार को हमारे आंदोलन को तोड़ डालने के लिये वह ओक रामबाण अस्त्र मिलेगा। अंग्रेज सरकार को लोकमत से परिचित कराने में और विलायत की

जनतामें हिन्दुस्तानकी हालतके बारेमें लोकमत तैयार करनेमें हमने जो ओक समय गँवाया अतना ही अगर हिन्दुस्तानकी ग्रामनिवासी जनताको तैयार करनेमें लगाया होता तो आज हम स्वराज्यमें पुराने हो गये होते । सच्चे कामका प्रारंभ कष्टदायक और आहिस्ता भले ही हो, शुरू-शुरूकी मन्दता भले ही हो लेकिन कुल मिलाकर सच्चे कामके फल ही पहले पकते हैं । अब भी 'जब जागे तभी सवेरा' समझकर किसानों, जुलाहों, कारीगरों, मजदूरों, स्त्रियों और क्लर्कोंकी स्थितिका महत्त्व समझकर अउनकी दुर्दशा दूर करनेके लिये, अन्हें तैयार करनेकी दृष्टिसे अउनके सवालोंनेकी तरफ ध्यान देनेका व्रत पत्रकारोंको लेना चाहिये । अबतक समाजसुधार और धर्मसंस्करण जैसे महत्त्वके विषयोंका विवेचन भी हमने मध्यम श्रेणीकी दृष्टिसे ही किया है । यह दुःखकी बात है ।

जैसे-जैसे पत्रकार ग्रामीण जीवनके विषयमें अधिकाधिक लिखते जायेंगे वैसे-वैसे प्रचारकों, अपदेशकों, नेताओं और कूटनीतिज्ञोंके लिये गाँवोंकी मुलाक़ात लेना लाज़िमी होगा । लेकिन वैसे होने के लिये पत्रकारोंके लेख स्थानीय रंगसे रंगे हुअे होने चाहिये । अउनमें स्थानीय अध्ययन और स्थानीय समभाव पूरी तरह होने चाहिये । 'सम्पादककी नज़रसे' लिखे हुअे गोलमोल सामान्य सिद्धांतोंसे काम न चलेगा ।

अच्छी तैयारीके साथ अगर अिस दिशामें प्रयत्न होने लगें तो यह व्यवहार घाटेका नहीं साबित हो सकता । अैसे लेख लिखकर, कि जिन्हें पढ़कर लोगोंको मज़ा आये और शिक्षा-शून्य मनोरंजन हो । कुछ पत्रकारोंने पाठकवर्गकी अभिरुचि बिगाड़ दी है । वरना अैसे वृत्त-विवेचनको, जिसमें जनताके हितकी चर्चा की गयी है, आवश्यक पारिश्रमिक दिये बिना जनता न रहेगी । फिर अस्रबार जेब भरनेका धंधा तो हरगिज़ नहीं

बनना चाहिये। अन्साफ़की खातिर, धर्मकी खातिर, लोक-कल्याणकी खातिर, लोकमतके खिलाफ़ जाना भी पत्रकारके लिये अचित्त होता है। विदेशियोंके जुल्मका वर्णन और असका निषेध लोकप्रिय हो सकता है, लेकिन अगर हम सामाजिक अन्यायों और कुरातियोंके खिलाफ़ खड़े हो जायें तो लोग चिढ़ भी जाते हैं। खुशामदके आदी पाठक और लेखक ऐसा वीरकर्म क्यों करने चले ? किसी महान् अन्यायके खिलाफ़ अभिमन्यु जैसा कोआँ तीर अँकाको असहाय लड़ता हो तो पत्रकारको असकी बगलमें खड़ा रहना ही चाहिये। प्रतिष्ठाकी जाति बहुत बार सुयोग्य किन्तु प्रतिष्ठारहित मनुष्यको दबाकर रखनेकी खूब कोशिश करती है। पत्रकार अगर हिम्मतवान होगा तो वह प्रतिष्ठाकी जातिको तोड़कर भी योग्यताका पुरस्कार करेगा।

जो बात व्यक्तिको वही संस्थाओंकी। देशमें काम करनेवाली संस्थाओंके स्वरूपकी जानकारी प्राप्त करके असका परिचय लोगोंको कराना और संस्थाओं सुस्त न बनें असलिये अनपर पहरा देते रहना पत्रकारका खास कर्तव्य है। देशमें जितना प्रत्यक्ष सार्वजनिक कार्य होता है असमें सहायक होना, अिसीमें वृत्तविवेचनके सभी फर्ज समा जाते हैं। वृत्तविवेचन अगर यह फर्ज अच्छी तरह अदा करे तो असकी शक्ति अितनी बढ़ जाती है कि जिस तरह सरकारें और विद्यापीठ योग्यताके लिये अुपाधियाँ देते हैं अस तरह अअ्रवार भी कर सकते हैं। फिर अैसी लोकमान्यताके आगे राजमान्यता तुच्छ हो जाती है।

कोआँ भी विशाल और नया सवाल हाथमें लेना हो तो पहले मासिक पत्रिकाओं असका विवेचन करें और बादमें साप्ताहिक पत्र असके हाथमें लेलें। अैसा करनेसे विषय टेढ़े रास्ते नहीं जाता और काम भी नहीं बिगड़ता। दैनिक पत्रोंके लिये अितनी मर्यादा आवश्यक है कि जो आन्दोलन चल रहा होगा असके

बारेमें ही वे लिखें ।

हमारे यहाँ दैनिक वृत्तपत्रोंका संपादकमंडल विशाल नहीं हुआ करता । बहुत बार राजा, प्रधान, सेनापति सभी ओक ही होते हैं । रोज़ झुठकर लेखपर लेख तो जनने ही पड़ते हैं । ऐसी हालतमें अगर समाजको कच्चा खाना परोसा गया तो आन्दोलनमें जरूर अब निकलेगा । हमारे यहाँ विद्याभ्यासंगी लोगोंने नियमित रूपसे अखबारोंकी मदद करनेका रिवाज अभी तक ठीक ढंगसे प्रचलित नहीं किया है । जब ओक अखबारके पीछे भिन्न-भिन्न क्षेत्रोंमें विशेष योग्यता रखनेवाले लोगोंका ओक बड़ा मंडल होगा और उसकी निरपेक्ष सेवा सतत मिलती रहेगी तभी हमारा वृत्तविवेचन पुख्ता और समृद्ध होगा । जिस तरह भगिनी निवेदिता और दीनबन्धु अँग्रेज अनेक अखबारोंके मददगार थे उस तरह हमारे यहाँके ऐसे कच्ची विद्वानोंके नाम लिये जा सकते हैं जो ऐसी मदद कर सकते हैं । वैसे लेखोंद्वारा कुछ लोग मदद करते होंगे, लेकिन सुभाव रखने जितना रस तो बहुत ही कम लोग लेते हैं ।

अस आक्षेपके खिलाफ़ लेखक ऐसी दलील पेश कर सकते हैं कि पत्रकारोंमें विद्वान् बुजुर्गोंके वचनको मान देनेकी वृत्ति है ही कहाँ कि अन्हें हम सलाह दें ? असलमें देखा जाय तो सलाहकार या परामर्शदाता आप्रही सास बन जाय तो उससे काम न चलेगा, और यह भी बर्दास्त नहीं किया जा सकता कि पत्रकार पंडितम्भन्य बनें । हमारा सामाजिक जीवन खराब हो गया है और वही हालत हमारे सार्वजनिक जीवनकी भी हुआ है । संघशक्तिसे काम करनेके नियम अभी हमारे गले नहीं झुतरे हैं । नीतिके बन्धन शिथिल करनेमें, अभिरुचिके अुच्च आदर्शोंको गिरानेमें और हर प्रकारके स्वच्छंद या स्वैराचारको रूढ़ करनेमें अब तक अखबारोंने कोओ कसर नहीं रखी है । जहाँ देखिये

नये अखबार शुरू होते हैं, थोड़ासा जीवनकलह चलाते हैं, और प्रैज्युअेटों (स्तातकों) के विद्याव्यासंग की तरह थोड़े ही दिनोंमें डूब जाते हैं। फिर सारा अतुसाह पक्षापक्षी या गुटबंदियों में ही रह जाता है। स्वतंत्र मौलिक कल्पनाओंका अकाल होनेपर भी प्रतिभाका दावा करनेवाला आडंबरी साहित्य अतना कुछ बढ़ गया है कि अब साहित्य-संरक्षक-मंडल की स्थापना करनेका समय आ पहुँचा है।

३

पत्रकार दो प्रकारके होते हैं। कुछ तो वे हैं जो अपने पत्र द्वारा जितनी वाङ्मयीन सेवा होती है अतनेसे सन्तोष मानकर बैठ जाते हैं। मतीलाल घोष, रामानन्द चट्टोपाध्याय और नटराजन अिस वर्गके नमूने समझे जा सकते हैं। दूसरे वह हैं जो अमली देशकार्य करते समय अपने विचारोंको प्रकट करनेके साधन के तौरपर अखबार चलाते हैं। गांधीजी, देशबन्धु, लाला लाजपतराय लोकमान्य तिलक आदि अिस वर्गके प्रतिनिधि हैं। प्रथम वर्गके पत्रकार विविधताके अपासक होते हैं। प्रत्येकका कुछ-न-कुछ प्रमुख विषय होने पर भी वह सर्वांगी विचार-प्रचारके हिमायती हुआ करते हैं। दूसरे वर्गके लोग कार्य-परायण होनेसे जहाँ तक हो सके अेकाग्रता लाना चाहते हैं। दोनोंका अपुयोग तो है, लेकिन अिन दो आदर्शोंकी मिलावट करना उचित नहीं है। प्रथम वर्गके पत्रकार अगर चाहें तो अपने अखबारको संस्कृतिका केन्द्र बनाकर अेक सम्प्रदाय या बन्धुसमाज तैयार कर सकते हैं। पुराने जमानेमें जो काम मन्दिर करते थे अुसी काम तक पत्रकार अपने पत्रको चढ़ा सकता है। दूसरे वर्गके पत्रकार देशसेवकोंकी अडिग सेना तैयार कर सकते हैं।

पत्रकारोंका तीसरा अेक वर्ग है—तनखाहके खातिर चाहें जिस मतका प्रचार करनेवालोंका। अमेरिकन नीग्रोंके अेक स्कूलमें

अेक शिक्षकको नौकरीपर रखते समय विद्यार्थियोंके मांभापोंने अुससे पूछा था, 'क्या तुम पृथ्वी गोल है अैसा सिखाओगे, या चौकोर है अैसा ?' अुसने जवाब दिया, 'अिसमें या दूसरी किसी भी बातमें मेरा निजी तनिक भी आग्रह नहीं है, आपकी टाअुन कौन्सिल बहुमतसे जो कुछ निश्चित करंगी सो पढ़ानेके लिये मैं तैयार हूँ।' अैसे लोगोंके हाथों क्या समाजसेवा होती होगी सो तो अेक ब्रह्माजी ही जानें।

पत्रकारके अलावा अेक नया वर्ग समाजमें पैदा होनेकी जरूरत है। अपने-अपने विषयमें या क्षेत्रमें जो-जो प्रवृत्ति चल रही हो, जो साहित्य प्रगट हुआ हो, नये-नये आविष्कार हुअे हों, निर्णय किये गये हों, वाद पैदा हुअे हों, नये नये नमूनोंका जन्म हुआ हो, अुन सबका वार्षिक संग्रह (अब्द कोष) करनेका काम किसीको अपने सिरपर लेना चाहिये। सामाजिक जीवनके कअी अुपांग जरूर अैसे हैं जिनके लिये साप्ताहिक तो क्या, स्वतंत्र मासिक-पत्रिका भी नहीं चलायी जा सकती, मगर फिर भी जिनकी जानकारी मामूली अखबारोंमें यदृच्छया आ जाय और बिखरी हुअी पड़ी रहे यह नहीं हो सकता। यदि कोअी 'वार्षिक' चलाता हो तो कुछ लोग अपने विषयकी सामग्री अुसके पास अवश्य भेज दें।

साहित्यचर्चा करनेवाली नहीं, किन्तु नये-पुराने सभी प्रकारके ग्रंथोंका संक्षिप्त परिचय करानेवाली अेकाध मासिक-पत्रिकाके लिये हमारी भाषामें अवश्य स्थान है। अिस तरहकी मासिक-पत्रिका विद्यार्थियों और आम लोगोंके लिये बहुत ही कीमती साबित होगी और साहित्यका अितिहास लिखनेमें तो अुसकी सेवाका मूल्य आँकना मुश्किल ही है। यह तो बहुत लोग जानते हैं कि मेजिनीकी साहित्यसेवा अैसे प्रयत्नसे ही शुरू हुअी थी। अैसा कुछ नहीं है कि अैसी पत्रिकाओंमें सिर्फ अपनी

भाषाके साहित्यका ही परिचय आये। हिन्दुस्तानके दूसरे साहित्यों-को भी अचित मात्रामें स्थान दिया जा सकता है।

सामान्य पाठक अगर अखबार और मासिक पत्रिकाओंके बाहर जाते हैं तो वह अपुन्यासोंमें अतुरनेके लिये ही। अस तरहकी हालत जबतक अपने देशमें हैं तबतक सारी दुनियाकी जानकारी असके पर्वापर-सम्बन्धके साथ देनेका प्रबन्ध लोकशिक्षा की दृष्टिसे अत्यंत आवश्यक है। दुनिया कहाँ-कहाँ फैली हुआ है, वहाँ क्या-क्या चलता है, प्रत्येक देशका दुखदर्द क्या है, दुनिया कहाँ तक आ पहुँची है असका खयाल हमारे लोगोंको होना ही चाहिये। असमें भी हम बड़ी हदतक परावलंबी रहेंगे ही। यह अपरिहार्य है। फिर भी अपनी दृष्टिसे प्रत्येक वस्तुकी मात्रा और महत्त्व निश्चित कर लोकशिक्षाका काम शुरू तो करना ही चाहिये।

चालीस करोड़ गुलामोंके अस राष्ट्रमें हमारा वृत्तविवेचन ज्यादातर अंग्रेजीमें ही चलता है। समर्थ लेखक अंग्रेजीकी ओर ही दौड़ते हैं। और जिनके लिये यह सारा प्रचार चल रहा है अस जनताको असके फलसे वंचित रहना पड़ता है, यह कितनी शर्म की बात है ! अस शर्मकी तरफ हमारा ध्यान नहीं जाता। अगर ध्यान खींचा भी जाता है तो सच्ची बात गले नहीं अतुरती अससे अधिक दयनीय स्थिति और क्या हो सकती है ?

देशी भाषाओंमें जो अखबार चलते हैं उनके पीछे तैयारियां बहुत ही कम होती हैं। कहा जा सकता है कि पत्रकारोंके लिये अत्यंत आवश्यक जानकारी, समझमें आये औसे रूपमें जिनमें दी हो औसी किताबें हमारी भाषामें हैं ही नहीं। 'अडियन अयर बुक', 'अन्युअल रजिस्टर', 'हूअिज हू', 'पिअर्स साअिक्लोपीडिया' 'कमर्शियल अटलास', 'हैंडबुक आफ कमर्शियल अन्फर्मेंशन'

आदि सर्वोपयोगी सादी किताबें भी देशी भाषाओंमें अभी तक तैयार नहीं हुई हैं। असलिये तथा अचित्त अध्ययनके अभावमें देशी पत्रिकाओं अंग्रेजी पत्रिकाओंकी केवल स्याहीचूस बन गयी हैं।

अतनी प्राथमिक तैयारी भी जहाँ नहीं है वहाँ अमुक विषय या अमुक घटनापर विश्वस्त जानकारी प्राप्त करनेके लिये खास संवाददाता भेजनेकी, या अखबारकी तरफसे जाँच-समिति नियुक्त करनेकी बात तो दूर ही रही।

वृत्तविवेचनपर जीनेवाला और-वृत्तविवेचनको पोषण देनेका ढोंग करनेवाला अेक भयंकर रोग है 'विज्ञापन'। सार्वजनिक नीतिको भ्रष्ट करनेवाली और कौटुम्बिक अर्थशास्त्रको तोड़ डालने वाली यह बुराअी अतनी फैल गयी है कि 'नवजीवन' द्वारा गांधीजीने असका जो अतना सख्त और सक्रिय विरोध किया है असका कुछ भी असर दूसरे अखबारों पर पड़ा हुआ दिखाअी नहीं देता। जब मैं अखबारोंपर अतने हीन विज्ञापन देखता हूँ तब मनमें विचार आता है, क्या प्रभु-सेवाके लिये कोअी अुत्तम देवमन्दिर बनाकर वादमें असका खर्च चलानेके लिये असके अहातेके कमरे शराबखानों और वेश्याओंको किरायेपर देने जैसा ही यह काम नहीं है ?

पत्रकारका व्यवसाय या वृत्तविवेचन अपने यहाँ यूरोपसे आया है। जिस तरह बच्चे अपना चारित्र्य और आदर्श बनने तक माँबाप या गुरुका अनुकरण करते हैं अस तरह हमने अब तक विलायती 'जर्नालिज्म' का अनुकरण किया। अमेरिकन ढंग दाखिल करनेकी भी कोशिश शुरू हो गयी है। क्या अभीतक अनुकरणका जमाना पूरा नहीं हुआ ? क्या स्वतंत्र व्यक्तित्व लाने जैसा हमारे राष्ट्रमें कुछ है ही नहीं ? अगर हमारे पास सांस्कारिक ब्यक्तित्व है, अगर हममें अस्मिता जागृत हुआ है,

तो उसे पहचाननेका, उसे विकसित करनेका और प्रकट करनेका समय क्या अब नहीं आया है ? हमारा सवाल सिर्फ राजनैतिक नहीं है । अगर वह सिर्फ राजनैतिक होता तो वह कभीका सुलभ गया होता । जिस तरह दुनियाके सभी धर्म इस देशमें अिकट्ठे हो गये हैं उस तरह दुनियाके लगभग सभी सवाल इस देशमें अिकट्ठे होने लगे हैं, हो गये हैं । अभी कुछ बाकी रहे होंगे तो वह भी आ जानेवाले हैं । चारों तरफसे पानीकी बाढ़ आनेपर बेचैन और परेशान हुआ लोग जिस तरह अँची-से-अँची जगह खोजते हैं, उसी तरह दुनियाके सभी सवाल, धर्म-धर्मके बीचके, जाति-जातिके बीचके, सामाजिक, आर्थिक, शिक्षासंबंधी सभी सवाल इस देशमें अिकट्ठे होने लगे हैं और उनकी चर्चा करनेका कर्तव्य पत्रकारोंके सिर पर आ पड़ा है । ऐसा तो है नहीं कि जो पत्रकार हुआ वह विचारक भी हो गया, लेकिन उसे हर सवालका स्वरूप और गांभीर्य ठीक-ठीक समझ तो लेना ही चाहिये और श्रेष्ठ विचारकों-ने उनके लिये क्या-क्या अपाय सुझाये हैं या प्रयुक्त किये हैं उनका सूक्ष्मतासे अध्ययन करनेके बाद यथाशक्ति, यथामति, उन्हें देशके सामने पेश करना चाहिये । हमारे जीवनमें और इतिहासमें, धर्ममें और समाज रचनामें उसी दिशामें क्या-क्या उपयोगी हैं इसकी जाँच-पड़ताल करके उसे दुनियाके सामने रखना उनका काम है ।

यह बात आसान नहीं है । दीर्घ अध्ययनसे मनुष्यमें विद्वत्ता आ जायगी, लेकिन शुद्ध और शुभ जीवनके बिना दिव्य दृष्टि और अडिग श्रद्धा नहीं आती । आजका जमाना ही ऐसा है कि जितना मुमकिन हो, चढ़ जानेकी आवश्यकता है । शैतान लगभग सिरपर सवार हो चुका है । उसे परास्त करनेके लिये देव-

सेनाके सज्ज होनेकी आवश्यकता है । औसे अिस अवसरपर पत्रकारोंके सामने आज ओक बड़ा सवाल है कि वे कौनसा काम करें ?*

६

जीवनविकासी संगठन

आजकलका कोअी भी मनुष्य लीजिये, अुसे स्वाभाविक रूप-से ही अंदरसे औसा लगता है कि हम अब किसी नये जमाने का, नये युगका, नये जीवनक्रमका प्रारम्भ कर रहे हैं । हम भले ही औसा कहते आये हों कि भारतवर्ष ओक है, और हमारी सांस्कृतिक ओकता मुख्य-मुख्य बातोंमें स्पष्ट रूपसे भले ही दिखाअी देती हो, फिर भी हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि आजतक हम छोटे बड़े गिरोहोंमें ही रहते आये हैं । 'विविधतामें ओकता' हमारी संस्कृतिकी खासियत है । लेकिन हमने तो विविधताको अनेकधा फैलने दिया और ओकता लाना लगभग भूल ही गये । असलिये समाजमें बलके होते हुआ भी हम कमजोर साबित हुआ । हम सबका रहनसहन तथा विचारप्रणाली ओक-सी होते हुआ भी हम छिन्न-भिन्न हो गये ।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य अिह नानेव पश्यति ।

हमारे पितरोंके पिता यमराजने कभी का कह दिया है कि जो व्यक्ति अपने जीवनमें केवल विविधताके ही पीछे पड़ता है वह जीवन-के ओक के बाद ओक क्षेत्रमें मृत्युके, क्षयके शिकंजेमें फँस जाता है । भगवान श्रीकृष्णने गीतामें भी कहा है कि 'जो ज्ञान भेदभावको पोषण देता है और विविधताको ही पहचानता

है वह समाजकी प्रगतिको रोक रखता है।' फिर कुछ लोग तो वस्तुओंका तारतम्य न जानकर लुद्ध अक्रांती वस्तुओंको ही सर्वस्व मानकर नासमझदारी करने लगते हैं। ऐसे लोग समाजको अधिकाधिक नीचे ले जाते हैं। जो लोग अकेले ही प्रान्तको सारा देश मानते हैं, संस्कृतिके किसी अकेले अंगको ही जीवनसर्वस्व समझने लगते हैं, वह अपनी शक्तिका अचित्त अपयोग नहीं कर सकते। किसी गाड़ीके सभी हिस्से-पुरजे साबुत हैं, लेकिन अगर वह अपनी-अपनी जगहोंसे खिसक गये हों या ढीले पड़ गये हों तो वह गाड़ी भला कैसे यात्रा कर सकेगी ?

अकेले जमाना था जब वेदोपासना, संस्कृतविद्या, भक्तिमार्ग, विरक्ति आदि महान् तत्त्वोंके बलपर हम सांस्कृतिक अकेला प्रस्थापित कर सके। लेकिन जैसे-जैसे युगोत्कर्ष होता जाता है वैसे-वैसे यह आवश्यक प्रतीत होता है कि समन्वयकारी तत्त्व अधिकाधिक व्यापक बने। परशुरामके समय ब्राह्मणसंगठन या क्षत्रिय संगठन स्वाभाविक होगा; वेदकाल में आर्यसंगठन महत्त्वका हो गया होगा; छत्रपति शिवार्जी महाराज या राणा प्रतापके समय में हिन्दुसंगठन अनिवार्य हुआ होगा लेकिन आज तो अिसमेंकोअी शक नहीं कि भारतीय संगठन ही अकेला मात्र युगधर्म है।

अिस तरहका संगठन अलग-अलग क्षेत्रोंमें कबका शुरू हो चुका है। अखिल भारतीय संस्थाओं तथा प्रवृत्तियाँ देशमें स्थान-स्थानपर दिखाअी देती हैं। शिक्षा और साहित्यके बारेमें तो प्रत्येक प्रान्त अकेलाकी बन कर सिर्फ अपना ही विचार करता आया है। वर्तमान संस्कृतिके ब्राह्मण अर्थात् अंग्रेज लोग और अनुकी सत्ता के द्वारा बाह्य कारणों के परिणाम-स्वरूप जो अकेला हम सबपर लाद दी गयी है अुसके बारेमें यह हरिगज नहीं कहा जा सकता कि वह कोअी प्राणदायी तत्त्व है।

प्रान्तोंके लिहाजसे शिक्षाका अलग-अलग प्रबन्ध हुआ; सरकारी विद्यापीठोंकी स्थापना हुअी। अिन युनिवर्सिटियोंने भारतीय तथा प्रान्तीय जीवन और संस्कृतिको कितना प्राधान्य दिया है यह तो हम देखते ही हैं। अब अखिल भारतकी शिक्षाको अेक तंत्रके नीचे लानेका सरकारका प्रयत्न चल रहा है। असमें सरकारको कामयाबी मिल जाय तो भी अससे समाज-हृदय अेक होगा या नहीं असमें शक है।

अगर ऐसा कहा जाय कि साहित्यके बारेमें यहाँ संगठन जैसा कुछ नहीं है, तो असमें कोअी गलती न होगी। साहित्यको अेक ही रस्सीसे बाँधना या नाथना आसान नहीं। साहित्यका मुँह बंद करना सहल होता है लेकिन प्रौढ साहित्य नकेलका नाम तक बर्दाश्त नहीं कर सकता। किसी भी क्षेत्रकी बाल्यावस्थामें ही असके अपूर पराया अंकुश टिक सकता है।

साहित्यमें कितनी शक्ति है असकी अधिकाधिक प्रतीति मनुष्य जातिको होती जा रही है। साहित्य अेक प्रकारका चैतन्य है, सामाजिक तेज है; संकल्पकी अमोघ शक्तिकी सहायतासे मनुष्य चाहे जो भला-बुरा परिणाम निश्चित रूपसे ला सकता है। लेकिन यह दोधारी तलवार है। यह अेक रसायन होनेके कारण जो कोअी अिसे हजम करेगा असुसे यह अजरामर बनायेगा; लेकिन अगर असका दुरुपयोग किया जाय तो यह समूल अुच्छेद किये बना न रहेगा। अेक समय था जब लोग साहित्यका अपुयोग मोक्षसाधनके लिये करते थे। आगे चलकर सत्ताधारी और पैसेवाले लोगोंके मनोविनोदके लिये साहित्यका अपुयोग होने लगा। अस जमानेके सम्बन्धमें देसनिकालेकी सज्जा पाये हुअे अेक जर्मन यहूदी लेखकने कहा है—

“यह समय साहित्यकलाके लिये या साहित्यकारोंके लिये बड़ा कठिन था। समाजमें यह विचार दृढ़ हो गया था कि

साहित्यकारके मानी हैं घरमें पालने योग्य अेक गुणीजन । प्रत्यक्ष जीवनके साथ असका कोअी सम्बन्ध न रहता था । साहित्यकार क्रुद्ध हो या सन्तुष्ट, दोनों बातें अेकसी थीं । असके हथियार ह्वामें किये गये कैर या घुमाये हुअे पट्टेकी तरह थे । साहित्य विनोदका अेक अुत्कृष्ट साधन समझा जाता था । अससे अधिक प्रतिष्ठा असकी न थी ।”

और साहित्यकार भी अेक बात भूल गये कि सिर्फ शब्दकौशल या कल्पनावैभव अुनके धंधेके लिये काफी नहीं हैं, असके लिये चारित्र्यकी भी आवश्यकता है । साहित्यकलाधर यह भूल गया कि अस-अस समय लोगोंकी जो अभिरुचि रूढ़ हो गयी हो असका पोषण या असकी खिदमत करना धर्म नहीं, बल्कि सत्य, न्याय, प्रसन्नता, सौन्दर्य, स्वातंत्र्य, मानवीमन और चैतन्यअिन सनातन और सार्वभौम जीवनतत्त्वोंकी अनन्य निष्ठासे अुपासना करना असका धर्म है । स्वधर्म-कर्म का भान भूल जानेके कारण वह सत्ताधारियोंके आश्रित परिवारमें गिना जाने लगा और जीवनके कठोर सत्य तथा वास्तविक परिस्थितिको भुला देना ही असका अेकमात्र कार्य बन गया । असि हेतु जनरंजन करनेवाले अनेक वर्गोंमेंसे वह अेक बन गया । अस दुनियाके अत्यल्प मानवी जीवन-पथपर प्रकाश डालनेका कार्य छोड़कर वह अस बातकी चिन्ता करने लगा कि समय किस तरह बिताया जाय । कलाको लोग Pastime, (या जैसा कि मद्रास की तरफ कहते हैं,) कालक्षेपम् समझने लगे ।

असके परिणामस्वरूप यह धारणा फैल गयी कि पंडित आश्रयके बिना शोभा नहीं देता । और अस तरह वह बनिता और लताकी श्रेणीमें जा बैठा । जो लोग खा-पीकर आरामसे रहते हैं असके पास अैशो-अिशरतके लिये विपुल समय रहता है । अैसे लोगोंका दिल अब न जाय असलिये क्या-क्या किया

जा सकता है जिस बातकी फ़िक्र करने का काम ही जिन कला-धरोंके लिये रह गया । मानव जीवनका बोझ झुटाकर जो बेचारे केवल भारवाही ही बने हैं जैसे पामरोंको साहित्यका आस्वाद लेने जितनी फुरसत मिले भी कहाँसे ? और जब कामका ही अकाल पड़ जानेकी वजहसे जैसे लोगोंको फुरसतका वक्त मिलता है तब रोटीकी तीव्र चिन्ताके सामने साहित्य सूझे भी कहाँसे ? भूखा आदमी व्याकरणसे पेट नहीं भर सकता, या प्यासा मनुष्य काव्यरससे अपनी प्यास नहीं बुझा सकता । सारांश, साहित्यका निर्माण तो हो गया मगर वह कृतार्थ न हुआ ।

जैसे समय जिन वर्गोंने साहित्यको आश्रय प्रदान किया जिनकी मनोवृत्ति उसमें प्रतिबिम्बित हुआ बिना कैसे रह सकती हैं ? समाजके भीषण जीवनकलहके स्वरूपको बिलकुल बदल डालकर उसे नसीबका रूप दे दिया गया । प्रचंड धार्मिक और सामाजिक विग्रहोंको विदूषक जैसा हास्यास्पद भेरू चढ़ाकर उन्हें नाटकोंमें अपाख्यानोका स्थान दिया गया और मानवी राग-द्वेषके अदम्य प्रवाहको बिलकुल लुप्त बनाकर किस छीने किसके साथ अभिसार किया और किसे ताली दी—जिसी के वर्णन साहित्यमें सर्वत्र दिखायी देने लगे । सभी दगाबाज ! नाटककार, अभिनेता, उनके शिक्षक और प्रेक्षक भी—सभी जालिम या जुल्मके शिकार हुआ थे ।”

जिस गढ़मेंसे साहित्यको ऊपर निकालनेके लिये जनता के कुछ सेवाधुरीण अपासक प्रयत्न कर रहे हैं । जैसे लोकसेवक साहित्यका अन्तरप्रान्तीय संगठन करना ही हमारा मुख्य अद्देश्य है । परायी संस्कृतिकी ओके बाद ओके बाढ़ें आ जानेके कारण हमारे लोग अगर परेशान हो गये हों तो उसमें कोओ आश्चर्य नहीं । लेकिन हर नयी बाढ़ अपने पानीके साथ जो

पौष्टिक मिट्टी लाती है वही चैतन्यके अंकुरके लिये सबसे अच्छा खाद बनता है। और फिर जीवनांकुर निकल आनेके बाद ही पूरी सत्रह आना फसल आ जाती है।

हमें लगता है कि हमारे देशके अतिहासमें ऐसा समय अब आया है।

जब जमीन तैयार हुआ हो तब जो निर्भय होकर बीज नहीं बोता और दिलमें यह डर रखता है कि आजतक प्राणपण से सँभालकर रखे हुआ बीज जमीनमें बो दें तो वह कीचड़में पड़कर सड़ जायेंगे और असलिये पुरानी पूँजीकी रक्षा करनेमें ही बड़ा पुरुषार्थ है, वह आस्तिकताकी भाषामें क्यों न बोलता हो, वह वास्तवमें नास्तिक है, जीवनद्रोही है। मुर्देको सँभालकर चैतन्यकी अपासनाका द्रोह करनेवाला है। वह मुँहसे भले ही धर्मकी जय बोलता हो, लेकिन हाथसे काम तो ऐसा करेगा जिससे धर्म का अचूक क्षय हो जाय। अब तो हमें धर्मके रक्षक नहीं बनना है, किन्तु धर्मसे रक्षण प्राप्त करना है। बेशक, यह धर्म पुरानी, सड़ी-गली, या खोरवली रूढ़िका नहीं बल्कि चैतन्यका सनातन धर्म होगा।

यह धर्म लेनदेन करते कभी न हिचकिचायेगा। जीनेके मानी ही हैं लेनदेन करना। जो देता और लेता है उसपर वह जीवन-देवता प्रसन्न होता है। 'ददाति प्रतिगृह्णाति नान्यथैषा प्रसीदति।' लेकिन देनेके मानी गुलामोंकी तरह चुंगी कर, या जुर्माने के तौर पर देना नहीं हैं, और लेनेके मानी भी फेंके हुआ दुकड़े भिखारीकी तरह झुठाना नहीं हैं। दुनियामें समानभावसे सबके साथ बराबरीके व्यक्तिकी तरह रहनेकी कला आनी चाहिये। यह साम्ययोग साधनेके लिये ही आपसी सहकारकी कला हस्तगत करनेकी आवश्यकता है। हमारे देशमें प्रत्येक प्रान्तकी कुछ न कुछ खासियत होती ही है। प्रान्तीय भेद स्पष्ट दिखायी देते हैं,

लेकिन संस्कृति तो प्रान्तोंके अनुसार अलग-अलग नहीं हुआ करती। संगीतके किसी समृद्ध और संपूर्ण रागमें जिस तरह आरोही और अवरोही स्वरोंमें भिन्नता होती है उसी तरहकी भिन्नता हमारे विविध प्रान्तों तथा उनके अलग-अलग वर्गोंमें है।

जिस समय राष्ट्रका आत्मविश्वास बिलकुल झुड़ गया था, उसमें किसी तरहकी हिम्मत नहीं बची थी उस समय कुछ लोग विदेशियोंका केवल अनुकरण करनेका उपदेश देने लगे और कुछ उनका विरोध करके कहने लगे कि पुराने मुर्दोंको मसाले में ढककर, उनका ममी बनाकर उसकी पूजा करनी चाहिये। हमारे यहाँ यह भगड़ा बरसोंतक चला। लेकिन बादमें सब्जी जागृतिका अदय होते ही पुरानी पूँजीपर जीनेकी या डिब्बेमें पैक होकर मिलनेवाली विदेशी ख़ूबकपर गुजारा चलानेकी बिलकुल आवश्यकता नहीं रही। अपनी ज़मीन को घरका तथा बाहरका खाद देकर नयी फ़सल तैयार करना ज़रूरी है यह बात अक्लमंद लोगोंके मनमें बैठ गयी। कष्टपूर्वक ज़मीनको जोतकर ताज़ी फ़सल लेनेसे ही राष्ट्रजीवनके लिये आवश्यक सभी विटैमिन्स (जीवनसत्त्व) मिल सकते हैं अतनी सादी बात भी हमारे गले अतरते दो पीढ़ियाँ राह देखनी पड़ी। और अिसीलिये आन्तर-प्रान्तीय संगठन की ज़रूरत हमें आजतक न महसूस हुअी। स्वावलंबनका प्रयत्न करते समय आपसी सरकारी ज़रूरत मालूम होने लगती है। परावलंबन में केवल नाथ-निष्ठा पूरी तरह हो तो काफी है। अब, जब कि हम निजी अनुभवका महत्त्व समझकर पराक्रम या पुरुषार्थ करने लगे हैं, उस समय, अेकदूसरेकी सलाह लेने की ज़रूरत हम महसूस करने लगे हैं।

मनुष्य प्रयोगवोर न हों, अनुभवपरायण न हों तो 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पर्वतरं कृतम्' अस तरहकी पूर्वानुसारी वृत्तिके वह आदी बन जाते हैं। उस जमाने में हमने बाहरके गुरु बहुत

से किये लेकिन आत्म-गुरुकी शोध नहीं की ।

राजनीतिमें पहले पहल सन् १८५७ आसवीमें हमने पुराने ढंगसे ओक सीधी सादी बगावत कर देखी । उसके बाद राज्य-कर्त्ताओंका इतिहास पढ़कर अन्हींका अनुकरण शुरू किया । पहिले हम आशा करते थे कि लिबरल पक्षके लोग अच्छे हैं । अन्हींके हाथों हमारा कल्याण होनेवाला है । हमें जब अनुभव हुआ कि यह आशा दुराशा है, तब हमने मजदूर-पक्षका दामन पकड़ा । उसी ज़मानेमें फ्रान्स, अटली, अमरीका आदि देशोंका इतिहास पढ़कर उससे प्रेरणा पानेकी हमने कोशिश की । अतनेमें रशियाकी प्रगतिसे सारी दुनिया चकाचौंध हो गयी और हमें मालूम हुआ कि उस देशमें जो क्रान्ति हुअी वह अति-हाससिद्ध शास्त्रकी मजबूत बुनियादपर खड़ी हुअी है ।

गुरुमंत्र चाहे जिससे लिया जाय, लेकिन अगर वह आत्म-सात् न किया जा सके तो उससे सामर्थ्य प्राप्ति नहीं हो सकती । साहित्यके बारेमें भी अनुकरण तथा अधार लेनेकी कुछ मर्यादा होती है । किसी ग्रन्थका स्वभाषा में अनुवाद किया जाय और अगर लोग उसे न समझ सकें तो उससे क्या फायदा ? और समझमें आये तो भी अगर सहानुभूति न पैदा हो, वह किसीको आकर्षक न लगे, तो उसे व्यर्थ ही समझना चाहिये । फर्ज कीजिये कि वह आकर्षक भी बन गया लेकिन अगर वह लोगोंके मानसमें प्रवेश न करे, विचारप्रणाली पर असर न करे, लोगोंके जीवनमें या अन्की निजी भाषामें न अतरे तो उसे निष्फल ही समझना चाहिये । साहित्यकी शक्ति अद्भुत है, लेकिन वह रसायन जैसी है । केवल साहित्यपठनसे या दूसरों से आदर्श और अनुभव अधार लेनेसे ज्यादा-से-ज्यादा साहित्यक्षेत्र समृद्ध हो जायगा, लेकिन उसमेंसे जीवन-साफल्य शायद ही निष्पन्न होगा ।

जब जीवन समृद्ध, व्यापक और गंभीर होगा तभी अपूरके गुण साहित्यमें उतरेंगे। शोधखोज, पराक्रम, प्रवास, व्यापार, हुनर, कलाकौशल, निरीक्षण, परीक्षण, नवनिर्मिति आदि बातोंमें जब समाज मोर्चेपर होता है, जब अुसकी महत्त्वाकांक्षा अुत्तुंग हो जाती है और कर्तव्यबुद्धि भेदक होती है तभी साहित्य जोरदार बनता है।

अिस तरहका पोषण साहित्यको अब मिलने लगा है और अिसीलिये साहित्यका अन्तर-प्रान्तीय संगठन करनेकी जरूरत आज महसूस हो रही है। अुसके लिए अुत्साह भी दिखाओ देने लगा है। वैसे देखा जाय तो यह कल्पना पचीस-तीस सालकी पुरानी है। लेकिन अगर अैसा कहा जाय कि साहित्यसंगठन करनेकी आवश्यकता अुस समय पैदा नहीं हुआ थी, तो वह गलत न होगा।

जीवनको भुलाकर, जीवनसे द्रोह करके केवल साहित्यका पोषण हमें नहीं करना है। जीवनके लिये साहित्य है। जीवनमेंसे साहित्यका अुद्गम है और साहित्यका फल भी संस्कारी तथा समर्थ जीवन ही है। विविधतामेंसे अैक्य प्रस्थापित करनेका हमारा जो जीवनमंत्र है अुसे साहित्यमें भी स्पष्ट तथा पूर्ण रूपसे व्यक्त करना है। और अिसलिये सर्वसमन्वय ही हमारा ध्यान-मंत्र है।

कुछ लोगोंको अैसा लगता है कि अनेक चीजोंकी खिचड़ो बनानेसे समन्वय हो जाता है, जब कि दूसरे कुछ लोगोंका खयाल है कि किसी अेक विशेष वस्तुका स्वीकार करके अुसका विस्तार करना और बाकीकी वस्तुओंको तिलांजलि देना ही अेकताका अेकमात्र साधन है। लेकिन यह दोनों दृष्टियाँ भूलभरी हैं। बिना विविधताके अैक्यमें कुछ अर्थ ही नहीं। विविध घटकोंका अुनका अपना स्वत्त्व अुचित मात्रामें न रखा जाय तो फिर समन्वय ही

किसका करें ? यह सही है कि स्वत्त्व रक्षा और समन्वय अकेले दूसरेके विरोधी तत्त्व मालूम होते हैं; वह आसानीसे अकेले दूसरेमें नहीं मिलते; लेकिन समाजको योग्य साधना करके यह समन्वय शक्ति अपनानी होती है। कच्ची भूलें होंगी, कच्ची पीढ़ियोंका बलिदान देना पड़ेगा; लेकिन स्वत्त्वरक्षा और समन्वय दोनोंकी अकेले साथ अपासना हो जाय तो असुसमेंसे जीवनके दिव्य स्फुल्लिंग निकले बिना कभी नहीं रह सकते। अिसीका दूसरा नाम है जीवन-रसायन।

सिर्फ खिचड़ी बनानेसे कभी कभी अनिष्ट चीजें ही पैदा होती हैं। बाजारमें सभी वस्तुओं अकेले होती हैं, लेकिन दूकानको कोअरी घर नहीं कहता। पुस्तकोंकी दूकानको पुस्तकालय नहीं कहा जा सकता।

जैसा कि हम अरुपर कह गये हैं, जीवन ही साहित्यका क्षेत्र है। असलिये जीवनके सभी क्षेत्र हमारे चिन्तनके विषय हैं। लेकिन अिन क्षेत्रोंमेंसे अकेले बहुत ही महत्त्वके और व्यापक क्षेत्रको हम फिलहाल जान बूझकर अलग रखनेवाले हैं। राजनीतिकी अुच्च भूमिकापरसे चर्चा जानेवाली राजनीतिकी हमारे कल्पित साहित्यमें कोअरी बाधा नहीं है। लेकिन वर्तमान परिस्थितिमें यही अिष्ट है कि हम अपनी भावनाओं मौन-द्वारा व्यक्त करें। आज देशमें सबको अकेले लानेकी बहुत जरूरत है। धर्माभिमान, जात्यभिमान, प्रान्ताभिमान और राजनैतिक पक्षभेद आदि बातों से हमारी मनोवृत्तियाँ अितनी प्रदूब्ध, संकुचित और बुद्धिविमुख हो जाती हैं कि अससे सांस्कृतिक संगठन अधिकाधिक मुश्किल हो जाता है। जहाँ दिल खोलकर बात नहीं की जा सकती वहाँ मौन रखना अच्छा है। डरते-डरते या किसीके दबावमें आकर भूठ-सचका मिश्रण करनेमें या टेढ़े ढंग से बोलनेमें सत्यका पालन नहीं है, सामर्थ्य नहीं है, तेजस्विता नहीं है और मानसिक

सन्तोष तो हरगिन्न नहीं है। और परिणाम देखते जाओ तो शून्य ! अिन सब कारणोंसे हमने अपनी प्रवृत्तिको राजनीतिसे अलिप्त रखना ही पसन्द किया है !

जहाँतक हो सके, व्यक्तिगत आलोचना भी टालनेका हमारा निश्चय है। जहाँ सभी स्वलनशील हों वहाँ कौन किसका अपहास करे। पहला पत्थर कौन मारे ? फिर व्यक्तिगत टीका करनेसे न टीका करनेवालोंको लाभ होता है, न सुधरता है टीकाका विषय हुआ व्यक्ति। वह या तो चिड़ जायेगा या नाअुर्माद होकर निराश हो जायेगा। परिणामस्वरूप सामाजिक जीवन अधिकाधिक नीचे गिरता जाता है अैसा सार्वत्रिक अनुभव है।

कुछ लोग कहते हैं कि साहित्य जीवनका समालोचन है। बात सही है; लेकिन अुसमें सारा सत्य नहीं आ जाता। साहित्य जीवनकी पुनर्घटना है, नवसर्जन है और कभी-कभी वह जीवन-प्रेरणा भी होता है। यह सब आदर्श हमारी दृष्टिके सामने हैं।

भारतीय साहित्य-संगठनका मुख्य कार्य तो राष्ट्रभाषाद्वारा ही चलेगा। लेकिन अुसका सन्देश अपने-अपने प्रान्तोंमें अपने-अपने ढंगसे पहुँचानेका काम प्रान्तीय भाषाओंको ही करना है। सब मिलकर अेक ही पंक्तिमें भोजन करने बैठे हों तो भी प्रत्येक व्यक्तिको अपनी भूख, स्वास्थ्य और अभिरुचिका विचार करके यह निश्चित करना पड़ता है कि क्या खाना है, कितना खाना है और किस तरह खाना है। अिसी तरह प्रान्तीय भाषाओंको करना पड़ेगा।

और सब कुछ देना हो तो भी देते समय शबरीकी तरह हर बेर अच्छी तरह देख-भालकर समर्पित करना अच्छा है। दूसरे अेक ढंगसे भी सोचा जा सकता है। हम 'महाराष्ट्रीय साहित्य' या 'भारतीय साहित्य' जैसे शब्दोंका अिस्तेमाल करते हैं। 'महाराष्ट्रीय संस्कृति', 'भारतीय संस्कृति' जैसे शब्दोंका भी हम प्रयोग

करते हैं। लेकिन साहित्य या संस्कृतिको अकेल बनानेका हमने कभी प्रयत्न किया है ?

‘मराठी बोलनेवाले सभी महाराष्ट्रीय हैं।’ यह परिभाषा तो ठीक है, लेकिन मराठी बोलनेवाले हम सब अंक हैं; अंक दूसरे के हैं अिस प्रकारकी वृत्ति जागृत करनेके लिये या अुसे दृढ़ करनेके लिये क्या हमने साहित्यमें कोअी प्रयत्न किया है ? अंक दूसरे की टीकाटिप्पणी करके अंक दूसरेके दोष जाहिर करके हमने अंक दूसरेकी सेवा की है अैसा शायद हम मानते होंगे, लेकिन अैसा करनेसे क्या हृदयोंका मिलन हुआ है ? क्या अैसा विश्वास अंक दूसरेके मनमें पैदा हुआ है कि संकटके समय अपनी मदद के लिये कोअी-न-कोअी जरूर दौड़ आयेगा ? क्या यह अर्थ हमारे यहाँ हुआ है कि ‘महाराष्ट्रका अभिमान’ के मानी भिर्क ‘मैं और मेरा’ का ही अभिमान नहीं बल्कि सभी महाराष्ट्रियोंके प्रति अपनापन, सबके प्रति प्रेम है ? अैसी भावना हो या न हो, अगर वह पैदा करनेकी धुन हो तभी भारतीय साहित्यके संगठन-की कल्पना और आस्था हममें अुत्पन्न होनेवाली है। आजका हमारा साहित्य ज्यादातर सफेदपोश श्रेणीका साहित्य है। कुछ लोग अुसे ब्राह्मणी-साहित्य कहते हैं। ‘ब्राह्मण आणि त्यांची विद्या’ के लेखक प्रिन्सिपल गोले की व्याख्याके अनुसार अिसमें शक नहीं कि आजका साहित्य ब्राह्मणी साहित्य है। अंक तरहसे मध्यम श्रेणीका साहित्य पराभूत या हारे हुआ (Defeatist) साहित्य है। पराभूत साहित्यका अंक लक्षण यह है कि हमारे पतित देशके लिये बीच-बीचमें हाय-हाय करना, कभी दूसरोंके दोष निकालना, कभी देशकी पतित दशाको भुलानेके लिये पूर्वजोंके गुणगान करना; समय-असमयपर दूसरोंके साथ तुलना करने बैठना, और अपनेको दूसरोंके जितना यश क्यों न मिला अिसकी कारणमीमांसामें बहुत बारीकीसे अुतरना, किसीको

यश मिले तो असका अभिनंदन करके असका अनुकरण करने के बदले किन बाह्य कारणोंसे उसे यश मिला असकी चिकित्सा करके यह ध्वनित करनेका प्रयत्न करना कि ऐसा मौका अगर हमको मिल जाता तो हमने भी ऐसा ही पराक्रम कर दिखाया होता, और यश-प्राप्तिके लिये जो पुरुषार्थ करना पड़ता है, उसके लिये जो संयम रखना पड़ता है, असका प्रयत्न करनेके बजाय ध्येयवाद, साधक जीवन, संयम और त्यागका अपहास करके धूर्तताको, बकवादको ही महत्त्व देकर सभी तरहके विलासको ही जीवनसर्वस्व मानकर लुब्ध परिस्थितिमें भी जो कुछ विलास सेवन तथा विलासचिन्तन संभव हो असीमें मशगूल रहना और वही स्वाभाविक है अग्रे लोगोके दिलोंमें अतारनेका प्रयत्न करना।

ध्येयवादका भी अेक ऐसा ही पराभूत (defeatist) संस्करण हुआ करता है। उसे भी हम न भूलें। जिन्हें पुरुषार्थ नहीं करने होते अुन्हें मनोराज्य या हवाअी किले बनानेकी आदत पड़ती है। अैसे मनोराज्य कभी-कभी ध्येयवादका रूप धारण करते हैं और असलिए प्रत्यक्ष कार्यका प्रारंभ करना वह टालते हैं। हमें यह समझ लेना चाहिये कि अस तरहका साहित्य भी पराभवी साहित्य ही है। आदर्श चित्रण कोअी आदर्श सेवन नहीं कहा जा सकता; समर्थ भक्ति कहीं सामर्थ्यकी अपासना नहीं है। हमें होशियार या सचेत साहित्यका स्वरूप पहचानना चाहिये; जिन्दा या जीवित विचार चिन्तनकी आदत डालनी चाहिये और बैसा करनेके लिये जीवनकी ही अपासना करनी चाहिये।

साहित्यका दावानल प्रकट करनेसे या गृहयुद्ध फैलानेसे समाज समर्थ या समृद्ध होनेवाला नहीं है। संचची सेवा करनी हो तो जीवनसे परिप्लुत साहित्यकी वर्षा करनेकी शक्ति प्राप्त करनी चाहिये।

[नवंबर १९३६]

रस-समीक्षा

सहज विचार करनेसे मालूम होगा कि साहित्य, संगीत और कला तीनों भावनाके ही क्षेत्र होनेसे तीनोंके अन्दर समानेवाली वस्तु (contents) अेक ही हो सकती है, अुसे हम रस कहते हैं। साहित्याचार्योंने रसचर्चा तो अनेक प्रकारसे की है। संगीतमें यह देखा जाता है कि राग और तालके अनुसार रसमें परिवर्तन होता जाता है। चित्राकलामें नवरसके भिन्न-भिन्न प्रसंग चित्रित किये जाते हैं। रेखाओंकी सबलता द्वारा तथा वर्णोंके साहचर्यसे रस व्यक्त किये जाते हैं। मूर्तिविधान, स्थापत्य, नृत्य आदि विविध कलाओं द्वारा भी अन्तमें रसोंकी ही अभिव्यक्ति करनी होती है। लेकिन अब तक साहित्य, संगीत और कलाओंकी दृष्टिसे—अर्थात् जीवनकलाकी समस्त यानि सार्वभौम दृष्टिसे—रसका विवेचन किसीने नहीं किया है। साहित्याचार्योंने जो विवेचन किया है अुसे स्वीकार करके और अुसका संस्करण करके अुसे व्यापक बनानेकी जरूरत है।

यह जरूरी नहीं है कि पर्वाचार्योंने जिन नौ रसोंका वर्णन किया है अुनके वही नाम और अुतनी ही संख्या हम मान लें। अब अिस बातकी स्वतंत्रतापूर्वक मीमांसा होनी चाहिये कि संस्कारी जीवनमें कलात्मक रस कौन-कौन-से हैं।

हमारे यहाँ शृंगारको रसरज कहा गया है। अुसे अग्रपूजाका मान है। लेकिन वास्तवमें वह सर्वोच्च रस नहीं कहा जा सकता। प्राणीमात्रमें नर-मादाका अेक दूसरेके प्रति आकर्षण होता है। प्रकृतिने अिस आकर्षणको अितना अधिक अुन्मादकारी बना दिया है कि अुसके आगे मनुष्यकी सारी होशियारी, सारा संयम और सब विवेक नष्ट हो जाता है। हम

यह सुवाल यहां न छेड़ें कि अिस आकर्षण को अुत्तेजन देना आवश्यक है या नहीं। पर अिस आकर्षण और प्रेमके बीच जो सम्बन्ध है अुसे अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। पहले हमें अिसका निश्चय कर लेना चाहिये कि नर-मादाके आपसी आकर्षणमें अेक-दूसरेके प्रति यथार्थमें प्रेम होता है या अहंप्रेम (self-love) की तृप्तिके साधनरूप ही वह अेक-दूसरे की तरफ देखते हैं। प्रकृतिकी रचना कुछ ऐसी है कि काम-वासना का प्रारंभ अहंप्रेमसे होता है। लेकिन अगर यह काम धर्ममार्गसे चले तो वह विशुद्ध प्रेम में परिणत हो जाता है। विशुद्ध प्रेममें आत्मविलोपन, सेवा और आत्मबलिदानकी ही प्रधानता रहती है। कामको विकार कहा गया है; प्रेमको कोअी विकार नहीं कहता, क्योंकि अुसके पीछे हृदयधर्मकी अुदात्तता होती है। यहां धर्मके मानी रूढ़िधर्म या शास्त्रधर्म नहीं किन्तु आत्माके स्वभावके अनुसार प्रकट होने वाला हृदय-धर्म है।

शृंगार मूलतः भोगप्रधान होता है। लेकिन हृदय-धर्मकी रासायनिक क्रियासे वह भावना-प्रधान बन जाता है। यह रसायन और परिणति ही काव्यका, कलाका विषय हो सकती है। प्राचीन नाट्यकारोंने जिस तरह नाटकोंमें रंगमंचपर भोजनका दृश्य दिखलानेका निषेध किया है अुसी तरह भोगप्रधान शृंगार चेष्टाओंको भी खुल्लमखुल्ला बतलानेकी मुमानियत कर दी है। यह तो कोअी नहीं कह सकता कि नाट्यशास्त्रकारोंको खाने-पीनेसे या रतिसुखसे घृणा थी। देह-धर्मके अनुसार अिन वस्तुओंके प्रति स्वाभाविक आकर्षण तो रहेगा ही, पर वैसी घटनाओं और वैसे आकर्षण कलाका विषय नहीं हो सकते। यह कहनेके लिये कि कलाकृतितमें अुस वस्तुको स्थान नहीं होना चाहिये किसी प्रकारकी वैराग्यवृत्तिकी आवश्यकता नहीं है। अुसके लिये सिर्फ संस्कारिता हो तो काफी है। मध्य-यूरपके अेक मित्रने

‘पहले महासमर’ के बादकी यूरपकी गिरी हुन्नी हालतका वर्णन करते हुन्ने लिखा था कि ‘हमारे यहां अब भोजनके आनन्दपर भी कविताओं लिखी जाने लगी हैं।’ यूरपके अच्छे-अच्छे कलारसिक, जो अिस दोषसे अब गये हैं। हमारे नाट्यशास्त्रमें शृंगार-चेष्टाओंके प्रति संयम रखनेका जो सुझाव रखा गया है, उसका अब वे स्वागत करने लगे हैं।

प्रेमरसका शुद्ध वर्णन हमें भवभूतिके ‘अुत्तररामचरित्र’ में मिलता है। ‘शाकुन्तल’ में प्रेमका प्राथमिक शृंगारिक स्वरूप भी है और अन्तका परिणत विशुद्ध रूप भी। वास्तवमें देखा जाय तो प्रेमको ही रसरजकी अपाधि मिलनी चाहिये। शृंगारको तो केवल उसका आलम्बन-विभाव कहा जा सकता है। शृंगारके वर्णनसे मनुष्य की चित्तवृत्तिको आसानीसे अुदीपित किया जा सकता है ! अिसीलिये सब देशों और सब जमानेमें कलामात्रमें शृंगारको प्रधानता प्राप्त हुन्नी दिखाअी देती है। जैसे अृतुओंमें वसन्त, वैसे रसोंमें शृंगार अुन्मादकारी होता ही है। जिस तरह लोगोंकी या व्यक्तिकी खुशामद करके बातचीतका रस बड़ी आसानीसे निभाया जा सकता है अुसी तरह शृंगार-रसको जागृत करके बहुत थोड़ीसी पूँजीपर कलाकृतियोंको आकर्षक बनाया जा सकता है।

सच्चे प्रेमरसमें अपने व्यक्तित्वको भुलाकर दूसरेके साथ तादात्म्य का अनुभव करना होता है। अिसीलिये प्रेमरसमें आत्म-विलोपन और सेवाकी प्रधानता होती है। प्रेम आत्माका गुण है, अिसीलिये वह देहपर विजय प्राप्त करता है। प्रेम ही आत्मा है। सभी प्रेमियों, भक्तों और वेदान्ती दर्शनकारोंने यह बात स्पष्ट कर दी है कि अमर प्रेमसे आत्मा भिन्न है ही नहीं। वीररस भी अपने शुद्ध रूपमें आत्मविकासका ही सूचन करता है। सामान्य स्वस्थ स्थितिमें मनुष्य अपने आत्मतत्त्वकी

श्रुतकटाका अनुभव नहीं करता । क्योंकि वह देहके साथ श्रेकरूप होता है । लेकिन जब असाधारण अवसरके कारण खरी कसौटीका वक्त आ जाता है तब मनुष्य अपने शरीरके बन्धनों से अचूँचा चढ़ता है । अिसीमें वीररसकी उत्पत्ति है ।

प्रतिपक्षीका द्वेष, उसके प्रति क्रूरता, उसके विरुद्ध अहंकारका प्रदर्शन आदिमें वीररस समाया हुआ नहीं है । लोक-व्यवहारमें कभी बार यह सब हीन भावनाओं वीरकर्ममें मिली हुअी होती हैं । वैसा होना कभी-कभी अपरिहार्य भी हो जाता है । लेकिन यह जरूरी नहीं कि साहित्यमें अुन्हें स्थान हो ही । साहित्य वास्तविक जीवनका कोअी संपूर्ण फोटोग्राफ नहीं हुआ करता । साहित्यमें वही चीजें लानी होती हैं जिनकी तरफ ध्यान खींचना आवश्यक हो । अिष्ट वस्तुको आगे लाना और अनिष्ट वस्तुओंको दबा देना साहित्य और कलाकी आत्मा है । अिस पुरस्कार और तिरस्कारके बिना कलाकी संभावना ही नहीं होती । वीररसके लिये जो कुछ हानिकर हो अुसे साहित्यमेंसे निकाल देना चाहिये । तभी वह साहित्य कलापूर्ण होगा ।

लोक-व्यवहार में वीररस अमुक अार्यता चाहता ही है । पशुओंमें शौर्य होता है पर वीर्य नहीं होता । जानवर जब जोश में आकर आपसे बाहर हो जाते हैं तब वे आपसमें अंधाधुंध लड़ पड़ते हैं । लेकिन अुनमें डरका तनिक भी प्रवेश हो जाय तो दुम दबाकर भागनेमें अुन्हें देर नहीं लगती । भयकी लज्जा तो वह जानते ही नहीं । भयकी लज्जा आत्माका गुण है । जानवरोंमें वह नहीं हुआ करती । आवेश हो या न हो; तीव्र कर्तव्य-बुद्धिके कारण अथवा अार्यत्वके विकसित होनेसे मनुष्य भयपर विजय प्राप्त करता है । आलस्य, सुखोपभोग, भय, स्वार्थ अिन सबको त्यागकर, चमड़ी बचानेकी वृत्तिसे मुक्त हो, आत्म-बलिदान के लिये जब मनुष्य तैयार हो जाता है तब वह जड़

पर--अपनी देहपर विजय प्राप्त करके आत्मगुणका अत्युत्कर्ष बताता है। औसा वीर-कर्म, औसी वीर-वृत्ति देखने या सुननेवालेके हृदयमें भी समान भाव-समभाव को जागृत करती है यही वीर-रसका आकर्षण और सफलता है।

वीरोंका वीरकर्म देखनेके बाद--हमारी बाज में वीर या वीर-समूह खड़ा है अिसलिये हम सही-सलामत हैं, अब भयका कोऔी कारण नहीं—अिस तरहका सन्तोष भी दुर्बलों तथा अवलाओंको मिलता है। अिसे वीर-रसका कोऔी सर्वोच्च परिणाम या फल नहीं कहा जा सकता।

जिस जमानेमें मनुष्य अपनी देहका मोह करनेवाला, फूँक-फूँककर क्रदम रखनेवाला और घर-घुसा बन जाता है अुस जमाने में वह वीरोंका वखान करके, अुन्हें अुभाड़कर या अुनकी बहादुरीकी तारीफके पुल बाँधकर अुनके हाथों अुपने लिये सुरक्षा प्राप्त करता है। औसोंके समाजमें वीररसकी, वीरकाव्यकी, जो चाह होती है, प्रतिष्ठा होती है अुस परसे यह न समझ लिया जाय कि अुस समाजमें आर्यत्वका अुत्कर्ष होने लगा है। जब बंबऔीमें लोकमान्य तिलकपर मुक्रदमा चल रहा था तब वहांके मिल-मजदूरोंने बड़ा दंगा किया था। अुनका वह तूफान देखकर मध्यम वर्ग तथा व्यापारी वर्गके कऔी लोग घरोंके अन्दर छिप बैठे। जब अुस आन्दोलनका दमन करनेके लिये सरकारी फौज आयी तब अुसे देख वही लोग मारे खुशीके हुर्रे-हुर्रे की जयध्वनि करने लगे और अुपने हाथोंके रूमाल अुझालने लगे। फौजके अुन वीरोंका स्वागत-सम्मान करते समय अुनके मुँहसे जो वीर-गान निकला अुससे यह नहीं कहा जा सकता कि अुस समाजके वीरत्वकी वृद्धि हुआ। यह आंखों देखी घटना है, अिसलिये अुसका असर दिलपर कायम रह गया है।

वीर-रसकी क्रद अगर वीर करें तो वह अेक बात है,

और रक्षण या आश्रय चाहनेवाले करें तो वह दूसरी बात है । वीर हमेशा वीररसको शुद्ध रखनेकी फिक्र रखता है जब कि आश्रयपारायण लोग प्राण-त्राण-पेलव होनेसे आर्य-अनार्य-वृत्तिका विवेक रखे बिना रक्षणकर्ताके प्रति नाथ-निष्ठा रखकर उसके सभी गुणदोषोंको अज्ज्वल रूपमें ही देखते हैं ।

वीरवृत्तिसे ही वैरवृत्ति जागृत होती है । असिका कोश्री अिलाज न देखकर आर्य-धर्म-कारोंने असिकी मर्यादा बाँध दी है कि 'मरणान्तानि वैराणि' । शत्रुके मर जानेके बाद असिकी देहको लात मारना, उसके शरीरके टुकड़े-टुकड़े करना, उसके आश्रितोंको सताना, अनकी स्त्रियोंका अपना बनाना, यह सब अक आर्यवीरके लिये शोभा देनेवाला नहीं है । वीर पुरुषोंने यह देख लिया था कि असि तरहके वर्तावसे मरे हुअे शत्रुका अपमान नहीं होता बल्कि अपने वीरत्वको ही बढ़ा लगता है । आर्य साहित्याचार्यों, कवियों और कलाकारोंने यह कह रखा है कि अगर दुश्मनी करनी हो तो अैसे आदमीके साथ करो जो अपने लायक हो, और असे हरानेके बाद असिकी कद्र करके असिकी प्रतिष्ठा को बनाये रखो और असि तरह अपना गौरव बढ़ाओ ।

वीरवृत्तिका परिचय मनुष्यके ही विरोधमें नहीं दिया जाता बल्कि सृष्टिके कुपित होनेपर भी मनुष्य अपनी अस वृत्तिको विकसित कर सकता है । जब मेरा शत्रु तलवार निकालकर मेरे सामने खड़ा हो तब केवल आत्मरक्षाकी दृष्टिसे भी मुझे अपनी सारी शक्तिको अकत्रित करके असका मुक्ताबला करना पड़ता है । अस वक्त अगर मैं लड़ाकू वृत्ति न रखूँ तो जाअँ कहाँ ? सिंहगढ़की दीवारपर चढ़कर अुदयभानुके साथ संग्राम करनेवाली तानाजीकी फौज जब हिम्मत हारने लगी तब ताना-जीके मामा सूर्याजीने दीवारपरसे नीचे अतरनेकी रसियाँ काट

बालीं। अमरीका पहुँचनेके बाद स्पेनिश वीर हर्नेन्डो कॉर्टेज़ ने अपने जहाज़ जला दिये। अिस तरह पीठ फेरना ही जब असंभव हो जाता है तब आत्मरक्षाकी वृत्ति वीरवृत्तिकी मदद करने आती है, और जिसे अपनी जान ज्यादा प्यारी होती है वही जैसे मौक़ेपर अधिक शूर बन जाता है।

लेकिन जब कोअ्री आदमी पानीमें डूब रहा हो या जलते हुअे घरके अन्दरसे किसी असहाय बच्चेकी चीख सुनाअ्री दे रही हो तब अपनी सलामतीका, जानके खतरेका तनिक भी खयाल किये बग़ैर कोअ्री तेजस्वी पुरुष हृदय-धर्मसे बफ़ादार रहकर पानी या आगमें कूद पड़ता है तब वह वीरवृत्तिका परम श्रुत्कर्प प्रकट करता है। जो व्यक्ति माफ़ी माँगकर जीनेकी अपेक्षा फाँसीपर लटकना ज्यादा पसन्द करता है, या करोड़ों रुपयोंकी लालचके वशमें न होकर केवल न्यायबुद्धि को ही पहचानता है वह भी अलौकिक वीरत्वका ही परिचय देता है। सारी दुनियाका चाहे जो हो जाय, पर अन्तरात्माके नादसे तो मैं हरगिज़ बेवफ़ा न होऊँगा—अिस तरहकी धीरवृत्ति जिसके लिये स्वाभाविक होती है वह वीरेश्वर ही है।

किसीकी वहू-बेटी या स्त्रीका अपहरण करते समय भी कअ्री गुंडे-बदमाश विकारके वश होकर असाधारण बहादुरी दिखाते हैं। बड़े-बड़े डाकू भी जान हथेलीपर रखकर घरोंमें सेंध लगाते हैं या लूटमार मचाते हैं, और पकड़े जानेपर पुलिसके आदमी अुनपर प्राणान्तिक यमयातना ढा दें तो भी अपने षड्यन्त्रका भेद नहीं बताते। अुनकी यह शक्ति लोगोंमें आश्चर्य और तारीफ़के भाव जरूर पैदा कर सकती है, लेकिन प्रामाणिक लोगोंका धनहरण या परस्त्रीका अपहरण करने की नीचातिनीच वृत्तिसे प्रेरित बहादुरीकी कोअ्री आर्यपुरुष कद्र नहीं कर सकता। कुछ डाकू बड़े-बड़े डाके डालकर प्राप्त होने वाले धनका अेक भाग

आसपासके प्रदेशके गरीब लोगोंमें बाँट देते हैं और अिस तरह लोकप्रिय बनकर अपनेको पकड़ने की कोशिश करनेवालों के छक्के छुड़ा देते हैं। कभी-कभी ऐसे डाकू और लुटेरे प्रख्यात समाज कंटक लोगोंका नाश करके, उनका सर्वस्व लूटकर गरीबोंको भयमुक्त करते हैं। इसलिये भी कृपण जनता ऐसे लोगोंकी सामान्य दुष्टताको भूलकर अुसके गुणोंका बखान करने लगती है। यह सब चाहे जितना स्वाभाविक क्यों न हो, फिर भी ऐसा नहीं कहा जा सकता कि अिससे समाजकी अुन्नति होती है। श्रीरामचन्द्रजीकी यह अुक्ति कि "पाल्या हि कृपणा जनाः" प्रजाके गौरव को नहीं बढ़ाती। जिससे लोक हृदय अुन्नत नहीं होता अैसी कृतिमेंसे शुद्ध वीररस निकलता है अैसा नहीं कहा जा सकता। सिर्फ हिम्मत और सरफरोशी वीररस नहीं है और शत्रुको बेरहमीसे अंगभंग करनेमें, अुसके आश्रितोंकी बेअिज्जती करनेमें वैरवृत्तिकी तृप्ति भले ही हो, लेकिन अुसमें न शूरता है, न वीरता; फिर आर्यता कहाँसे होगी ?

जो आदमी युद्ध करने जाये अुसमें खून, मांस और शरीरके छिन्न-भिन्न अवयवोंको देखनेकी आदत तो होनी ही चाहिये। दुःख और वेदना—अपनी हो या परायी—सहन करनेकी शक्ति अुसमें होनी ही चाहिये। शस्त्रक्रिया करनेवाले डाक्टरोंमें भी अिस शक्तिका होना आवश्यक है। समझमें नहीं आता कि खूनकी धारको देखकर कुछ लोगोंको चक्कर क्यों आ जाता है। ख़ुद मुझे मांस कटता देख या शस्त्रक्रिया देखते समय किसी किस्मकी बेचैनी महसूस नहीं होती। फिर भी जब मैं वीररस के वर्णनके, सिलसिलेमें रणनदीके वर्णन पढ़ता हूँ तब अुसमेंसे बगैर जुगुप्साके दूसरा भाव पैदा नहीं होता। यह तो मैं समझ ही नहीं सकता कि खूनके कीचड़ और अुसमें अुतरते हुआ नररुण्डोंके वर्णनसे वीररसको किस तरह पोषण मिलता है।

युद्धमें जो प्रसंग अनिवार्य हैं अनुमंसे मनुष्य भले ही गुजरे, लेकिन जुगुप्सा पैदा करनेवाले प्रसंगोंका रसपूर्ण वर्णन करके असीमें आनन्द माननेवाले लोगोंकी वृत्तिको विकृत ही कहना चाहिये। मनुष्यको खंभेसे बाँधकर, अस्पर कोलतारका अभिषेक कराके उसे जला देनेवाले और अस्की प्राणान्तिक चीखें सुनकर सन्तुष्ट होनेवाले बादशाह नीरोकी विरादरीमें हम अपना शुमार क्यों करायें ?

वीर-रस मानवद्वेषी नहीं है। वह परम कल्याणकारी, समाज-हितैषी और धर्मपरायण आर्यवृत्तिका द्योतक है और असे वैसे ही रखना चाहिये। वीररसका पोषण और संगोपन वीरोंके ही हाथमें रहना चाहिये। वीरवृत्तिको पहचाननेवाले कवि, चारण, और शायर अलग होते हैं और अपनी रक्षाकी तलाशमें रहनेवाले कायर तथा आश्रित अलग।

पुराने जमानेकी वीरकथाओं हम जरूर पढ़ें, आदरके साथ पढ़ें, लेकिन अनुमंसे हम पुरानी प्रेरणा न लें, हीन सन्तोष हमें त्याज्य ही लगना चाहिये। जीवनके वीर्यका नया आदर्श स्वतंत्र रूपसे विकसित करके अस्के लिये आवश्यक पोषक तत्व पुरानी वीरकथाओंमेंसे जितने मिल सकें अन्हें चुन-चुनकर हम जरूर अस्तेमाल करें। लेकिन वीररसके पुराने, कर या जीवनद्रोही आदर्शोंमें हम फिसल न जायँ। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि अगर जीवनमेंसे वीरता चली गयी तो वह असी क्षणसे सड़ने लगेगा और अन्तमें ओक भी सद्गुण न बच पायेगा।

वर्तमान युगके कलाकारोंके अग्रणी श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुरको ओक बार जापानमें ओक ओसा स्थान दिखाया गया जहाँ दो वीर लड़ते-लड़ते कट मरे थे। अस् स्थान और अस् घटनापर अपनी प्रतिभाका प्रयोग करके ओअी कविता लिखनेके लिये अनुसे कहा गया। कविवरने वहाँ जो दो चरण लिख दिये वह

भारतवर्षके मिशन तथा मानवजातिके भविष्यको शोभा देनेवाले थे। अनुका भाव यह है कि, “दो भात्री गुस्सेमें पागल होकर अपनी मनुष्यताको भूल गये और अनुन्होंने धरती माताके वक्षःस्थलपर अके-दूसरेका खून बहाया। प्रकृतिने यह देखकर ओसके रूपमें आँसू बहाये और मनुष्यजातिकी अिस रक्तिरंजित लज्जाको हरी-हरी दूबसे ढाँक दिया।”

शान्तिप्रिय, अहिंसापरायण, सर्वोदयकारी, समन्वयप्रेमी संस्कृतिका वीररस त्यागके रूपमें ही प्रगट होगा। आत्मविलोपन, आत्मबलिदान ही जीवनकी सच्ची वीरता है। अुसके असंख्य भव्य प्रसंग कलाके वर्ण्य विषय हो सकते हैं। अैसे प्रसंग कलाको अनुन्नत करते हैं और जनता को जीवन-दीक्षा देते हैं। मैंने अभी अिस बातकी जाँच नहीं की है कि आजके कलाकार अिस पहलूको विशेष रूपसे विकसित करते हैं या नहीं; लेकिन अितना तो मैं जानता हूँ कि अगर भविष्यकी कला अुस दिशामें गयी तो निकट भविष्यमें वह असाधारण प्रगति कर सकेगी और समाज सेवा भी अुसके हाथों अपने आप होगी।

जब भवभूतिने यह सिद्धान्त स्थिर किया कि ‘रस अेक ही है, और वह है करुणरस; वह अनेक रूप धारण करता है,’ तब अुसने करुण शब्दको अुतना ही व्यापक बनाया जितना कि कला शब्द है। हृदय कोमल बने, अनुन्नत बने, सूक्ष्मवेदी बने या अुदात्त बने वहाँ कारुण्यकी छटा तो आयेगी ही। कारुण्यकी समभावना या समवेदना सार्वभौम है, अुसके द्वारा हम विश्वात्मैक्य तक पहुँच सकते हैं। करुणरस सचमुच रससम्राट है। लेकिन यह आवश्यक नहीं कि करुणरस में शोककी भावना होनी ही चाहिये। वात्सल्यरस, शान्तरस और अुदात्तरस करुणाके जुदे-जुदे पहलू हैं। जिस तरह नदियाँ सागर में जा मिलती हैं अुस तरह अन्य सब रस अंतमें जाकर करुण रसमें

विलीन हो जाते हैं। अिन सब रसोंके लिये अेक मित्रने नाम सुभाया है, 'समाहित रस', अर्थको देखते हुआ यह नाम बिलकुल ठीक मालूम होता है। लेकिन भाषामें यह सिका चल सकेगा या नहीं अिसमें शक है। वास्तवमें देखा जाय तो सभी रसोंकी परिणति योगमें ही है। योग अर्थात् समाधि-समाधान-साम्यावस्था सर्वात्मैक्यभाव। कलामेंसे अंतमें यही बात निकलेगी। कलाका साध्य और साधन यह योग ही है। दुर्भाग्यकी बात है कि योगका यह व्यापक अर्थ आजकी भाषामें स्वीकार नहीं किया जाता। नाक पकड़कर, पलथी मारकर, बड़ी देर तक नींद लेना और भूखों मरना ही लोगोंकी दृष्टिमें 'योग' रह गया है !

हमारे साहित्यकारोंने करुणरसका बहुत सुन्दर विकास किया है। कालिदासका 'अजविलाप' या भवभूतिका 'अुत्तररामचरित्र' करुणरसके अुत्तम नमूने माने जाते हैं। भवभूति जब करुणरसका राग छेड़ता है तब पत्थर भी रोने लगते हैं और वज्रकी छाती भी पिघलकर चूर-चूर हो जाती है। करुणरस ही मनुष्यकी मनुष्यता है। फिर भी यह जरूरी नहीं कि करुणरसका अुपयोग केवल स्त्री-पुरुष के पारस्परिक विरह-वर्णनमें ही हो। माँ अपने बच्चेके लिये विलाप करे तो अुतनेसे भी करुणरस का क्षेत्र पूरा नहीं होता। अनन्त कालसे हर जमाने में, और हर मुल्कमें, हर समाजमें और हर कारणसे महान् सामाजिक अन्याय होते आये हैं। हज्जारों-लाखों लोग अिन अन्यायोंके शिकार होते आये हैं। अज्ञान, दारिद्र्य, अुच्चनीचभाव, असमानता, मत्सर, द्वेष, लोभ आदि अनेक कारणोंसे तथा बिना कारण भी मनुष्य मनुष्यको सताता है, गुलाम बनाता है, चूसता है और

अपमानित करता है। यह सब घटनाओं करुणरस के स्वाभाविक क्षेत्र हैं।

नल राजाके हंसको पकड़ने या अक्रोध सिंहके नन्दिनी गाय-को धर दबोचने का दुःख हमारे कवियोंने गाया है। कोश्री निषाद कौंचपक्षीके जोड़ेमेंसे अक्रोध बाणसे विद्ध करता है तो वाल्मीकिकी शापवाणी सारी दुनियाके हृदयको भेदकर अिस अन्यायकी तरफ अुसका ध्यान खींचती है। फिर भी मनमें अैसा नहीं लगता कि पशुपत्तियोंका या गायभैंसका दुःख अभी किसीने गाया है। मध्यम वर्गके लोग विधवाओंके दुःखोंका कुछ वर्णन करने लगे हैं। लेकिन अुसमें भी भवभूतिका ओजो गुण या वाल्मीकिका पुण्य प्रकोप प्रकट नहीं हुआ है। करुणरसका असर जितना होना चाहिये अुतना नहीं हुआ है। अिसलिये हृदयकी शिक्षा और हृदयधर्मकी पहचान अधूरी ही रही है। और अिसीलिये गांधीजी जैसे व्यक्ति अस्पृश्यताके कारण अपने हृदयका दर्द व्यक्ति करते हैं तो भी सामाजिक हृदय अधिकांशमें अस्पृष्ट ही रहता है। करुणरससे सिर्फ हृदय पिघले तो अुतना काफी नहीं है। अुससे हृदय सुलग अुठना चाहिये और जीवनमें आमूलाग्र क्रांति हो जानी चाहिये। जीवनके प्रत्येक व्यवहारके लिये हृदयधर्ममेंसे मनुष्यको अक नयी कसौटी तैयार करनी चाहिये।

अगर यह कहा जाय कि प्राचीन लोगोंको हास्य-रसकी यथार्थ कल्पना तक नहीं थी, तो अुसमें ज्यादा अतिशयोक्ति नहीं है। नर्म वचन और सुन्दर चाटूक्तियाँ तो संस्कृत साहित्यमें जहाँ-तहाँ बिखरी पड़ी हैं; हमारी संस्कारिताकी वह विशेषता है। लेकिन अँचे दर्जेका हास्यरस अुसमें बहुत ही कम पाया जाता है। अब हमारे साहित्यमें हास्यरसने अनेक सफल प्रयोग किये हैं सही। फिर भी यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि

नाटकोंमें पाया जानेवाला हास्यरस बहुत ही सस्ता और साधारण कोटिका है। हमारे व्यंग्यचित्रों (cartoons) और प्रहसनोंमें पाया जानेवाला हास्य-रस आज भी बहुत निम्न-श्रेणीका है। पाठशालाके प्रीति-सम्मेलनोंमें हास्य और वीर दो ही रसोंको ज्यादा तरजीह दी जाती है। इसका कारण यही है कि बिना ज्यादा मेहनत किये अनुभूति में सफलता मिलती है; अनायास तैयारी हो जाती है और तालियाँ भी ज्यादा-से-ज्यादा मिलती हैं। लेकिन इससे कलाकी प्रगति नहीं होती और जनता भी संस्कार-समर्थ नहीं बनती।

मैं नहीं जानता कि हमारे कलाकारोंने अद्भुत-रसका परिपोष किन-किन तरीकोंसे किया है। पर मेरे अभिप्रायमें अद्भुत-रसकी उत्पत्ति भव्यता (sublimity) मेंसे होनी चाहिये। वरना मनुष्यका अज्ञान जितना अधिक होगा उतनी उसे हर चीज अधिक अद्भुत मालूम होगी। अद्भुतका स्वरूप ही ऐसा है कि उसके आगे कलाका सामान्य व्याकरण स्तम्भित हो जाता है। विजयनगरके आसपासके पहाड़ोंमें बड़ी-बड़ी शिलाओंके जो ढेर पड़े हैं अनुभूति में किसी तरहकी व्यवस्था या समरूपता तो तनिक भी नहीं है। लेकिन वहाँ तो उसकी कुछ जरूरत ही नहीं मालूम होती। सरोवरका आकार, बादलोंका विस्तार, नदीका प्रवाह—अनमें क्या कोशिश किसी खास व्यवस्थाकी अपेक्षा रख सकता है? भव्य वस्तु अपनी भव्यतासे ही सर्वाङ्ग परिपूर्ण हो जाती है। नहरका व्याकरण नदीके लिए लागू नहीं होता; उपवनका रचनाशास्त्र महाकान्तरके लिये उपयोगी नहीं होता। जो कुछ भी भव्य, विस्तीर्ण, अद्वैत और गूढ़ है वह अनन्तका प्रतीक है और इसीलिये वह अपनी सत्तासे परम-रमणीय है। महाकवि तुलसीदासजीने जो कहा है कि 'समर्थको नहिं दोष गुसाव्री' वह नये अर्थमें यहाँ

कलाके सूत्रके तौरपर ही अधिक सुसंगत मालूम होता है।

अद्भुत, रौद्र और भयानक तीनों रसोंका अद्भुत अंग ही होता है। हृदयकी भिन्न प्रतिभूतियों (Responses) के कारण ही उनके अलग-अलग नाम पड़े हैं। जब शक्तिके आविर्भावसे हृदय दब जाता है, लज्जा खो बैठता है तब भयानक रसकी निष्पत्ति होती है। किसी आँची और लटकती हुई कगारके नीचे जब हम खड़े रहते हैं तब हम यकीनके साथ जानते हैं कि यह शिलाराशि हमारे शिरपर टूट पड़नेवाली नहीं है, झुलटे आँधी-तूफानसे वह हमारी रक्षा ही करेगी। फिर भी अगर वह कहीं गिर पड़े तो !—अतना खयाल मनमें आते ही हम दब जाते हैं। यह भी एक शक्तिका ही आविर्भाव है। पर्वत-प्राय सागर-लहरोंपर सवार होकर सफर करनेवाले जहाजमें बैठे-बैठे हम इसी भावका दूसरी तरहसे अनुभव करते हैं।

भव्य वस्तुके साथ मनुष्य हमेशा अपनी तुलना करता ही रहता है। यह तुलना करते-करते जब वह थक जाता है तब आप-ही-आप रौद्ररस प्रगट होता है। और जहाँ भव्यताकी नवीनता और असका चमत्कार मिट नहीं गया है वहाँ अद्भुत रसका परिचय मिलता है। यह तीनों रस मनुष्यकी संवेदन-शक्तिपर आधारित हैं। हम नहीं जानते कि आकाशके अनन्त तारोंको देखकर जानवरोंको कैसा लगता होगा। बालकोंको तो वह एक पालनेके चँदोवेकी तरह मालूम होता है। लेकिन वहाँ एक प्रौढ़ खगोलशास्त्रीको तो नित्य-नूतन और वर्धमान अद्भुत रसके विश्वरूप-दर्शनके समान लगता है। अद्भुत रसकी खूबी यह है कि जिस तरह मेघका गर्जन सुनकर सिंहको गर्जना करनेकी अच्छा होती है उसी तरह आर्य हृदयको भव्यताका दर्शन होते ही अपनी विभूति भी अतनी ही विराट, अदात्त

और भव्य करनेकी अिच्छा हो अठती है। अद्भुत रसमें मनुष्यकी आत्मा अपनेको अद्भुततासे भिन्न नहीं मानती, बल्कि अेक तरहसे अुसमें वह अपना ही प्राकट्य देखती है; लेकिन रौद्र या भयानकमें वह अपने को भिन्न ही मानती है। जिसने अिन दोनों वृत्तियोंका अनुभव किया है अैसे कलाकारने अेका-अेक घोषित किया कि शिव और रुद्र अेक ही हैं; शान्ता और दुर्गा अेक ही हैं। जो महाकाली है वही महालक्ष्मी और महासरस्वती भी है। श्री रामचन्द्रजीका दर्शन होते ही हनुमानजी के भक्तहृदयने स्वीकार कर लिया —

“देहबुद्ध्या तु दासोऽहम् जीवबुद्ध्या त्वद्वंशकः ।

आत्मबुद्ध्या त्वमेवाऽहम्; यथेच्छसि तथा करु ॥”

अिस अन्तिम चरणमें जो सन्तोष है वही कलाके क्षेत्रमें शान्तरस है। रौद्र, भयानक और अद्भुत यह तीनों रस अगर अन्तमें हमें शान्त रस में न ले जायँ, सन्तोष न दें तो अिन्हें कोई रस ही न कहेगा ।

अगस्त १९३६

११

मेरे साहित्यिक संस्कार

पुराने ज़मानेमें वेदान्तकी जितनी चर्चा और मीमांसा चलती थी अुससे आजकी साहित्य-चर्चा कुछ कम नहीं है। आज साहित्यका तंत्र बहुत सूक्ष्म और अटपटा हुआ है। अिस तंत्रके अनुसार लिखना कोअी आसान बात नहीं है। अिस तंत्रकी तानाशाहीसे अबकर बेचारा भवभूति बोल अुठा था—

सर्वथा व्यवहर्तव्यम् कुतो ह्यवचनीयता ।

यथा स्त्रीणां तथा वाचाम् साधुत्वे दुर्जनो जनः ॥

लेकिन आद्य साहित्यकारके सामने कौनसा तंत्र था ? हर देश

उत्था समाजका आद्य साहित्यकार अनजाने ही साहित्यिक हुआ होगा, क्योंकि साहित्य बिल्कुल प्राकृतिक प्रवृत्ति है। अवलोकन, निरीक्षण, विचार, कल्पना या भावना जब अतृप्त हो जाती है तब मनुष्यसे लिखा-बोला जाता है; और अतृप्तताका यह स्वभाव ही है कि उसकी भाषामें कुछ असाधारणपन, कुछ आकर्षण, कुछ चमत्कृति आ ही जाती है। अतृप्ततामें स्वाभाविक सौन्दर्य प्रकट हुआ बिना रहता ही नहीं। यह शोभा पहले तो आप-ही-आप फूट निकलती है, लेकिन बादमें वह शोभा ही सारा ध्यान खींच लेती है और सराहनाका विषय बन जाती है। उसमेंसे धीरे-धीरे साहित्यका तंत्र बँध जाता है।

पहले तो लोकसाहित्यकी ही सृष्टि होती है। उसमें धीरे-धीरे प्रयत्नपूर्वक शोभा लानेसे शिष्ट साहित्य तैयार होने लगता है। लोकसाहित्यमें दो लक्षण हमेशा दिखायी देते हैं; साहित्य-शास्त्र और धर्मशास्त्रके कृत्रिम और निश्चित बन्धनोंमें वह नहीं बँधता। सामान्य लोकसमाजकी स्वतंत्र प्रवृत्ति और स्वयंभू प्रेरणाके वशमें जब-तक साहित्य रहता है तभी-तक वह लोक-साहित्य होता है, सदाचार और सदभिरुचिकी जितनी रक्षा सहजरूपसे उसमें की जाती हो अतनेसे ही वह सन्तोष मानता है। प्रयत्नपूर्वक मर्यादाओं बाँधकर आग्रहके साथ उनका पालन करने जायँ तो लोकसाहित्यका लौकिक-पन मिट जाता है।

लोकसाहित्यकी बड़ी फसल आनेके बाद मनुष्यको उसमें छलनी लगानेकी अिच्छा होती है। और उसीमेंसे शिष्ट समाजका साहित्य बढ़ता है।

लोकसाहित्यकी स्वाभाविकता और ताजगी मुझमें हो या न हो, शिष्ट-साहित्यका असर मुझपर पड़ा हो या न हो, मैं तो अपनेको स्वाभाविक लेखकोंकी श्रेणीमें ही गिनता हूँ। अनुभव और चिन्तनसे जो कुछ और जैसा कुछ सूझे वही अस-अस

वक्त लिख डालना मैंने पसन्द किया है। प्रयत्नपूर्वक साहित्य-सेवा तो मेरे हाथों हुआ ही नहीं। शिष्ट समाजमें विचरता हुआ भी मैं शिष्ट समाजका नहीं हो सका। जैसा कुछ अनगढ़ था वैसा-का-वैसा ही रह गया हूँ। मुझे असका दुख नहीं है क्योंकि अस रास्तेसे ही मैं अपने अपने-पनकी—फिर वह अपना-पन चाहे जितना स्वल्प क्यों न हो—रक्षा कर सका हूँ। अनगढ़ मनुष्यको सामाजिक व्यवहारमें कदम-कदम पर कड़वे अनुभवोंका सामना करना ही पड़ता है। ऐसे अनुभव मेरे लिये दो नतीजे लाये। एक तो यह कि मैं समाजसे अकृताकर कुदरतकी गोदमें जा पड़ा; और दूसरा यह कि मैं अन्तर्मुख हो गया। पहले-पहले ये दोनों वृत्तियाँ साहित्यसृजन करने न देती थीं। असलिये यानी संयमके अद्देश्यसे नहीं बल्कि आत्म-अविश्वास, लज्जा और मुग्धभावके कारण मैं साहित्यसे दूर ही रहा। विद्या-ध्ययनके दिनोंमें जो कुछ पढ़ना पड़ा और जो कुछ थोड़ा-सा अपने असाधारण आकर्षणके कारण नजरमें जँच गया अतना ही मैंने पढ़ा। अपनी साहित्य-शक्तिको बढ़ानेका जो झीमती मौका था अससे मैंने कोअी फायदा नहीं अठाया।

मुझमें अगर कुछ भी साहित्यशक्ति पैदा हुआ हो तो वह अपने अनुभव और विचार व्यक्त करनेकी अतकटतामेंसे ही हुआ है। और वह स्वभाविक रूपसे संभाषणमें ही परिणत हुआ। काश, अस वक्त मुझे वासरी (डायरी) लिखने की आदत होती ! अपने एक शिष्यको मैंने अैसी वासरी लिखते देखा है। अुनकी वासरी पढ़ने की हमें अिजाजत थी, लेकिन असका आस्वाद लेने जितनी शक्ति हममें न थी। क्योंकि वे अपनी वासरी अंग्रेजीमें लिखते थे। असे अगर वे मराठीमें लिखते तो मेरे जैसे अनेक मुग्ध बालकोंको असाधारण लाभ पहुँचा होता।

अितना तो सही है कि चिट्ठी-पत्र और वासरी ही सामान्य

जनसमाजका साहित्य है। मेरे खयालसे वही अुच्च कोटिका साहित्य है। दूसरोंसे कहने जैसा जितना कुछ हो अुतना ही हम खत-पत्रों-में लिखते हैं और अपने जीवनमें जो कुछ दर्ज करने जैसा हो, यानी खासियत रखता हो, वही वासरीके पृष्ठोंमें आ जाता है। अैसी बढ़िया छलनीसे छनी हुई कृतियाँ साहित्यका दर्जा हासिल करे तो अुसमें क्या आश्चर्य ? साहित्यकार भले कहें कि नाट-कान्तं कवित्वम्, अुनकी वातका विरोध मैं नहीं करता। सभी प्रकार की विविधता और आकर्षकता नाटकोंमें स्वाभाविक रूप से अिकट्ठी होती है। फिर भी मैं कहूंगा कि पत्रमूलं एवं वासरी मूलं च साहित्यम्। दोनोंमें वास्तविकताका बड़ेसे बड़ा आधार रहता है। आजकलके कृत्रिम युगमें पत्र और वासरी दोनों बना-बटी ढंगसे भी लिखे जा सकते हैं। अुसका विचार यहाँ किस-लिये करूँ ? दुनियाकी कौनसी चीज़ विकृत नहीं होती ? संभा-षण और मनन जिस तरह अुत्कट व्यापार हैं अुसी तरह पत्र और वासरी दोनों का लेखन अुत्कट व्यापार है।

हमारे बचपनमें साहित्य कंठ करनेका रिवाज बहुत था। स्कूलमें तथा घरमें लड़कोंसे बहुत कुछ कंठ कराया जाता था। लेकिन हमारी प्राथमिक शालाओंमें अुच्च अभिरुचिसे चयन देनेवाला कोई न था। घरमें तो बालबोध और सकाम भक्तिसे चुना हुआ साहित्य याद करनेका रिवाज था। शामको मन्दिरों में पौराणिकोंका पुराण सुनने बैठें और रातको हरिदासोंके संगीतमिश्रित हरिकीर्तनका मञ्चा लूटने जायँ तभी साहित्यरसि-कताका अखूट आस्वाद मिलता था। अुसमें भी अर्थालंकारकी अपेक्षा शब्दालंकार और श्लेषपर ही हमारे ये साहित्याचार्य कुर्बान होते थे।

घरमें सबसे बड़े भाअी संस्कृतके रसिक थे। बचपनमें अुन्हें पढ़नेके लिये अेक शास्त्रीजी रखे गये थे। भाअीसाहब कभी-

कभी संस्कृतके अच्छे-अच्छे फ़िकरे पढ़कर सुनाते थे, घमते-टहलते वक्त कंठ किये हुआ श्लोक गुनगुनाने की अन्हें आदित थी। अर्थ भले ही समझमें न आये, लेकिन संस्कृत वाणीकी ध्वनि के प्रति आदर और प्रेम तो मेरे मनमें बचपनमें ही अिस तरह जागृत हुआ था। आज भी मुझे अैसे दो फ़िकरे याद हैं जिनका अर्थ मैं समझ सका था। अेक है सावित्री-आख्यानका और दूसरा है शांकरभाष्यके अेक आसान अंशका।

अेक तरफ़ माताजीके मुँहसे सुने हुआ पौराणिक लोकगीत, दूसरी तरफ़ संस्कृत सुभाषित और बीचमें समायी हुआ पौराणिकोंकी गरी—वह मेरा बचपनका साहित्यिक पाथेय था। दिलचस्पी आने लगी पांडवप्रताप, शिवलीलामृत, भक्तिविजय हरिविजय आदि मराठी काव्यग्रंथ और ‘नवनीत’ नामके मराठी काव्यसंग्रहमें आये मराठी कवियोंके गीत गानेमें। अिस पुराने मराठी साहित्यके कारण मेरा शब्दसंग्रह बढ़ा और संस्कृति सीखनेकी पूर्व तैयारी हो गयी।

‘संस्कृत शैली या लोकशैली?’ का झगड़ा आजकल प्रत्येक प्रान्तमें चल रहा है। हमने यह झगड़ा यूँपसे मोल लिया है। लोक-भाषा, लोकसाहित्य और अनुके देशज शब्दोंकी मुझे कद्र है। यह मैं भी मानता हूँ कि अनुके अुद्धारके बिना लोकजागृति और लोकशिक्षा संभव नहीं है। फिर भी जो लोग यह कहते हैं कि संस्कृतकी धुरा फेंक दो और सिर्फ़ लोकभाषासे ही प्रेरणा लो, अनुसे मैं सहमत नहीं हो सकता। संस्कृत भाषा चाहे जितनी मुश्किल हो, उसका व्याकरण चाहे जितना अटपटा हो, फिर भी वह हमारी भाषा है, हमारी बनायी हुआ भाषा है। उसमें हमारी जनताका स्वभाव और उसका मानसिक गठन प्रतिबिंबित हुआ है। उसके पोषणके द्वारा ही हम संस्कृतिपुष्ट होनेवाले हैं। अंग्रेजोंके लिये जिस तरह ग्रीक या लैटिन परायी भाषाअें हैं उस तरह

संस्कृत हमारे लिये परायी नहीं है। हम अगर संस्कृतसे पोषण लेना छोड़ दें तो हम सभी तरहसे क्षीण हो जायेंगे। हमारी सांस्कृतिक अकेलापन और सांस्कृतिक समृद्धिमें संस्कृतका हिस्सा सबसे बड़ा है। विशाल संस्कृत साहित्यका मंथन करके अस्समेंसे चौदह नहीं बल्कि चौदह हजार रत्न अपनी देशी भाषाओंमें हमें लाना चाहिये, और अस्स विरासतकी सुगंध हमारे तमाम लेखोंमें महकनी चाहिये।

साहित्यकी उत्तम तैयारी साहित्य-विवेचनसे नहीं बल्कि सर्व-श्रेष्ठ साहित्यके गहरे अध्ययनसे हो सकती है। साहित्य-विवेचन अचित मात्रामें और बहुत देरसे आना चाहिये, वरना अभिप्राय और अभिरुचि असमय ही परिपक्व होते हैं।

और साहित्यकी सृष्टि तो विवेचनमेंसे हरगिज नहीं होनी चाहिये। साहित्यके लिये जबरदस्त सिसृक्षा और दूसरोंके साथ गहरा विचार विनिमय करनेकी आतुरता प्रधान प्रेरणा हो सकती है। माताका अपने बालकोंके प्रति प्रेम, पतिपत्नीका एक दूसरेके प्रति अनुराग और गुरुशिष्योंके बीचका भक्तिवात्सल्य ये भावनाओं जितनी अतृप्त होती हैं अतृप्त ही साहित्य सिसृक्षाकी वृत्ति भी अतृप्त और अदम्य है। यह सिसृक्षा अगर शुभ परिणामी न हो तो उसे पागलपनकी अपमा दी जा सकती है। साहित्य आज जितना सस्ता हुआ है और बेसमझे-बूझे जितना खराब किया है अतृप्त अगर वह खराब न किया गया होता तो साहित्यने भारी-से-भारी परिणाम दिखा दिये होते। शुभंकर साहित्य आत्माकी अमृतकला है, क्योंकि वह चैतन्यकी प्रेरणा है।

साहित्यकी सिसृक्षा और अस्सका केवल आस्वाद लेनेकी रसिकता यह दो चीजें बिलकुल अलग-अलग हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि केवल रसिकतामेंसे सिसृक्षा पैदा होगी ही।

सिसृक्षा स्वतंत्र प्रेरणा है। साहित्यकी सिसृक्षामें तमाम सिसृक्षाओं के लक्षण दिखायी देते हैं। जिस तरह बाल-विवाह खराब है उसी तरह छोटी अम्रमें जल्दी-जल्दीमें किया हुआ साहित्य सर्जन खराब है। दोनोंमें बड़ी अम्रतक ब्रह्मचर्य यानी वीर्यरक्षा आवश्यक है। दोनोंमें तुलना करनी ही हो, तारतम्य निश्चित करना हो, तो 'वीर्यपातकी अपेक्षा वाक्पात अधिक अम्र होता है।' जिस पुराने वचनको नये अर्थमें साहित्यपर भी चरितार्थ किया जा सकता है। यह कहना मुश्किल है कि साहित्य जैसी मंगल वस्तुमें मर्यादा किस तरह रखी जाय। फिर भी अतना तो समझ ही लेना चाहिये कि अतिसेवनसे खराबी पैदा किये बिना नहीं रहता। अतिसेवन से शायद संस्कारिताकी चमक आ सकती है लेकिन तेज तो कभी नहीं आ सकता।

कुछ साहित्यवीरोंको हम अखंड सृजन करते देखते हैं। यह अखंड साहित्यसृष्टिका अधिकार जीवन वीरों तथा जिन्दा मिशनरियों का ही है।

अध्ययनकालमें मराठी, संस्कृत और अंग्रेजी साहित्यके अतृकृष्ट ग्रंथोंका असर मुझपर पड़ा। रवीन्द्रनाथ ठाकुरका साहित्य और गांधी-साहित्य उसके बाद आये। अिन दोनों राष्ट्र-पुरुषोंकी विभूतियाँ भिन्न-भिन्न हैं। दोनोंकी साधनाओं अलग-अलग हैं। लेकिन दोनोंके साहित्यका गहरा अध्ययन करनेपर यह बात साफ हुअे बिना नहीं रहती कि दोनोंका दर्शन करीब-करीब अेक-सा ही है। आधुनिकोंमें भांडारकर, रानडे, स्वामी विवेकानन्द, भगिनी निवेदिता, लाला हरदयाल, आनन्द-कुमार स्वामी, बाबू विपिनचन्द्र पाल, अरविन्द घोष, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और गांधीजी-अितनोंका प्रभाव मुझपर अधिक-से-अधिक पड़ा है अैसा मैं मानता हूँ। आश्चर्य यह है कि मैं लोकमान्य तिलकका भक्त होते हुअे भी और अुनके आन्दोलनमें शरीक

होनेपर भी अनुके साहित्यका मुझपर बहुत ही कम असर पड़ा । उसमें कुछ-न-कुछ ऐसा है जिससे मैं अनुका साहित्य हज़म न कर सका । अंग्रेजी साहित्यके बारेमें यहाँ कुछ भी लिखनेकी अिच्छा नहीं है । मैं अितना ही कह सकता हूँ कि अंग्रेजी साहित्यके प्रति मेरे मनमें गहरा आदर है, हालाँकि उस साहित्यका सेवन तो मैं बहुत कम कर सका हूँ ।

कवि हों या गद्यलेखक, अनुहें जीवनका गहरा अध्ययन या दर्शन होना चाहिये और आजकल तो साहित्यकारके लिये मनोविज्ञान, समाज-विज्ञान, भौतिकविज्ञान और धर्मशास्त्रका विस्तृत अध्ययन करना ज़रूरी है । इस आदर्शतक जो पहुँचे हैं, अनुहींका साहित्य समाजपर गहरा असर कर सकता है । विवेकानन्द, निवेदिता, रवीन्द्रनाथ और गांधीजी मुझपर जो इतना प्रभाव डाल सके उसका यही कारण है । अनुके साहित्यने मुझे जीवनमें प्रेरणा दी, हृदयको सात्वना दी, और अुज्ज्वल भविष्यकी झलक दिखलायी ।

अितिहासकारोंका भी मुझपर गहरा असर होना चाहिये था । लेकिन जैसा अितिहास मैं चाहता हूँ वैसा अितिहास मैंने नहीं देखा है । मेरी रायमें जो त्रिकालज्ञ हो वही यथातथ्य अितिहास लिख सकता है ।

×

×

×

मेरे विचारसे हमारे देशके लिये रामायण और महाभारत अत्यंत पौष्टिक आहार हैं । दोनों अलग-अलग चीज़ें हैं । सिर्फ़ रामायणसे काम नहीं चलेगा । सिर्फ़ महाभारतसे भी काम नहीं चलेगा । यह दोनों संक्षेप में भी नहीं पढ़े जा सकते, वह पूरे-के-पूरे ही पढ़े जाने चाहिये । साथ-ही-साथ अपनिषद, योगसूत्र और मनुस्मृति पढ़ी जायँ तो हमारी बहुत कुछ तैयारी हो जायगी । उसमें भी गीता पढ़नेके बाद ही अपनिषदोंका

अध्ययन होना चाहिये। अमेरिकन लोगोंके लिये जो स्थान कोलंबसका है वही स्थान हमारी संस्कृतिमें उपनिषदके आत्मवीरोंका है। हमारे साहित्यमें उपनिषदकी कंडिकाओं और पालीभाषाके बौद्ध संभाषणोंको सभी तरहसे हमारा मूलधन कहा जा सकता है। अनुके अन्दर ही हमें अपनी संस्कृतिकी गंगोत्री मिल जाती है। अनुमेंसे प्राप्त होनेवाले जीवनदर्शनको अद्यतन करनेके लिये अनुसमें भौतिकविज्ञान, संपत्तिशास्त्र और सामाजिकविज्ञान इन तीनोंको जोड़ देना चाहिये।

साहित्यका विचार करते समय मुझे ऐसा लगता है कि संस्कृत साहित्यके साथ अंगरेजी साहित्य, प्राचीन यूरपका ग्रीक साहित्य और पूर्वकी तरफ का हमारे लिये लगभग अज्ञात जैसा चीनी साहित्य अिन सभी साहित्योंका गहरा अध्ययन होना चाहिये। प्राचीन संस्कृतिके अध्ययनके बिना अिस बातका पता न चलेगा कि आधुनिक काल की ताकतें कितनी हैं, कैसी हैं और अनुका वीर्य कहाँतक पहुँच सकता है। हमारे यहाँ जितना अध्ययन अंग्रेजी साहित्यका हुआ करता है अतना ही अध्ययन जर्मन साहित्यका भी होना जरूरी है, लेकिन अनुस बारेमें हम अभीतक लापरवाह हैं। यूनिवर्सिटियाँ अपने पाठ्यक्रम द्वारा जितना कुछ खिलायेंगी अतना ही खा लेनेकी हमारी शिशुवृत्ति अभी नहीं गयी है। और जितना खाया जाता है अतनेका लाभ अपनी भाषाको देनेका फर्ज भी बहुत कम विद्वान् अदा करते हैं।

अिस संबंधी अेक छोटीसी घटना मुझे बहुत महत्वकी लगी है। बम्बयी सरकार ने अेक बार बम्बयी यूनिवर्सिटीसे पूछा था, कि 'संस्कृत के अध्ययनके लिये अगर हम कालेज खोलें तो क्या आप अनुस कालेजके विद्यार्थियों को यूनिवर्सिटीकी अपधियाँ देनेको तैयार हैं?' अनुस वक्त यूनिवर्सिटीमें जो चर्चा अिस बारेमें हुअी अनुसमें हमारे प्रिन्सिपल परांजपेजीने अपनी

यह राय जाहिर की कि 'यदि संस्कृतके साथ कुछ नहीं तो प्रीवियस (फर्स्ट ग्रेजुएट आर्ट्स) जितना अंग्रेजीका ज्ञान होगा तभी हम अुपाधि देनेका विचार करेंगे' और अुसमें भी अुन्होंने अिस बात पर जोर दिया कि 'संस्कृत सीख लेनेके बाद अगर विद्यार्थी अंग्रेजी सीखने जाय तो वह नहीं चलेगा । अंग्रेजी विद्याके संस्कार हो जानेके बाद अगर कोअी संस्कृत सीख ले तो हमें अेतराज नहीं है ।' अुनका विचार अुलटा था अगर आग्रह सकारण था । हमने अपने यहाँ शिक्षा के गर्भादानमें ही अंग्रेजी-के संस्कार कराके अपनी विद्याको निःसत्व और हीनश्रद्ध बना दिया है । विद्यासंस्कारका प्रारंभ अगर स्वकीय भाषा और स्वकीय संस्कृति से ही न किया जाय तो हमारे लिये किसी भी प्रकारकी अुन्मीद नहीं है । अैसा तो कुछ नहीं है कि जो अपना-अपना धर्म छोड़ते हैं वे ही सिर्फ परधर्ममें जाते हैं । स्वधर्म और स्वभाषाके संस्कारोंसे अगर बाल्यकाल वंचित रहे तो अुसके जैसी हानि दूसरी कोअी भी नहीं है ।

हमारे गठनमें पहले स्वभाषा तथा अुसका साहित्य और अुसके साथ ही तथा अुसके द्वारा ही संस्कृत के संस्कार भी मिलने चाहिये । अुसके बाद राष्ट्रभाषा--जिसके द्वारा संस्कृत व पर्शियन दोनोंका परा खमीर हमें मिलना चाहिये । अितनी तैयारीके बाद दूसरी चाहे जो भाषा और अुसका साहित्य ले लिये जाय तो वह पोषक ही होगा ।

जहाँ भारतवर्षकी साधना सर्वसमन्वयकारी है हमारी यूनिवर्सिटियोंने लगभग ऐसा प्रवन्ध कर रखा है कि जो संस्कृत पढ़ें वह फारसी पढ़ ही न सकें और जो फारसी पढ़ें अुन्हें संस्कृतसे विमुख ही रहना पड़े । केवल हिन्दुस्तानीके द्वारा ही हम गंगा-यमुना जैसी अिस सुर-असुरकी संस्कृतिका मेल करा सकते हैं । जिन्हें साहित्यके संस्कारोंको सर्वांगसुन्दर बनाना है

अन्हें संस्कृत और फ़ारसी दोनों साहित्योंके अतृकृष्ट ग्रंथोंके अनुवाद हिन्दुस्तानीमें कराने चाहिये और औसा प्रबन्ध करना चाहिये कि वह दोनों लिपियोंमें अपलब्ध हों। अिन दोनोंका जब अेकसाथ सेवन होगा तब हमारे साहित्यसर्जनमें अेक नया ही तेज आ जायगा ।

जीवन संस्कृति

१

संस्कृतिका विस्तार

वृक्ष तो अपने-अपने स्थानों पर ही स्थिर रहते हैं, लेकिन वायु वृक्षों के बीजों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर अड़ाकर ले जाती है। फूल अपने स्थान पर ही रहता है, किन्तु पतंगों के पैरों में फूल के जो पराग चिपक जाते हैं उन के जरिये दूर-दूर के फूलों में रहने वाले पुँकेसर और स्त्री केसर का संयोग होता है और अतिसुन्दर पुष्प-सृष्टिका विस्तार हो जाता है। मानवी संस्कृतिके बारे में भी यही स्थिति है। मनुष्य के अन्दर दोनों वृत्तियाँ देखी जाती हैं—स्थावर और जंगम। जो आदमी स्थावर होते हैं वे एक ही स्थान पर कायम रहते हैं। अन्त में संरक्षक प्रवृत्ति विशेष रूप से होती है। स्थावर लोग पुरातन प्रिय होते हैं। शान्तिके अपासक होते हैं। जंगम लोग अन्त से बिल्कुल विपरीत; अन्त में स्थिरता नहीं होती। चाहे जितना लाभ होता हो तो भी जंगम मनुष्य एक स्थान को पकड़कर नहीं बैठेगा। स्थावर मनुष्य का धंधा खेती है और जंगम मनुष्य का शिकार या पशुपालन। शिकार जंगली स्थिति है और पशुपालन अन्त से सुधरी हुआ स्थिति है। स्थावर तथा जंगम दोनों वृत्तियाँ श्रीश्वर-निर्मित हैं। दोनों के द्वारा श्रीश्वर का हेतु ही सफल हुआ करता है। अतिस तत्त्व का ध्यान में रखकर हम भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का अध्ययन करेंगे।

दुनियामें तीन प्रधान संस्कृतियाँ देखी जाती हैं:—अिस्लामी, श्रीसाअी और हिन्दू। हालाँकि अिन संस्कृतियोंको हमने अुन-अुन धर्मोंके ही नाम दिये हैं, फिरभी अैसा तो नहीं है कि धर्म और संस्कृति अेक ही चीज हो। अितना ध्यानमें रखा जाय तो यहाँ पेश किये हुअे विचारोंमें कोअी गड़बड़ी मालूम न होगी।

अिस्लामी संस्कृति अरब लोगोंके तंबूओंमें पैदा हुअी और घोड़ोंकी पीठपरसे अुमका विस्तार हुअा। जहाँ-जहाँ घोड़ा पहुँच सका वहाँ-वहाँ अिस्लामी संस्कृति भी पहुँच गयी। जिस तरह प्रत्येक जन्म दो व्यक्तियोंके संयोगसे होता है अुस तरह संस्कृतिकी भी हालत होती है। मुसलमानी धर्मके अरबी वीर्यका श्रीरानी संस्कृतिके साथ संयोग हुअा और अिस्लामी संस्कृतिका निर्माण हुअा।

अब श्रीसाअी संस्कृतिको देखें। श्रीसाअी संस्कृतिका जन्म भूमध्यसागरके किनारेपर हुअा और अुसका प्रसार समुद्रकी पीठपर चलनेवाली नौकाओंकी मारफत हुअा। श्रीसाअी धर्मके तत्त्वोंको ग्रीक संस्कृतिसे पोषण मिला और आगे चलकर रोमन संस्कृतिके अखाड़ेमें तालीम पाकर वह तैयार हो गये। श्रीसाअी संस्कृतिपर मातापिताकी अपेक्षा गुरुकी शिक्षाका असर अधिक हुअा दिखाअी देता है। जहाँ-जहाँ नौकाकी गति है वहाँ-वहाँ अिस संस्कृति का विस्तार हुअा है।

तीसरी संस्कृति है हिन्दुओंकी। अिस्लामी संस्कृतिका चित्र तंबूके पास घोड़ेको बाँधकर दिखाया जा सकता है; श्रीसाअी संस्कृतिका चित्र समुद्रकी लहरोंपर डोलनेवाली नौकासे व्यक्त किया जा सकता है; जबकि हिन्दू संस्कृतिका चित्र वटवृक्षके नीचे किसी भोंपड़ीके पास गायको बाँधकर दिखाया जा सकता है। आर्य-धर्मका द्राविड़ी आदि संस्कृतियोंके साथ विवाह हुअा और अुसमेंसे हिन्दू-संस्कृति पैदा हुअी।

श्रीसाश्री संस्कृतिका प्रसार करनेके लिये किशती है। अस्लामी संस्कृतिके प्रसारके लिये घोड़ा है, मगर हिन्दू-संस्कृतिका प्रसार करनेवाला कौन है? जंगलोंको काट-साफ करके खेती और शहरोंकी स्थापना करनेवाले आर्योंने हिन्दू-संस्कृतिका थोड़ा-बहुत प्रसार किया तो सही, मगर हिन्दू-संस्कृतिका विस्तार करनेवाला सच्चा प्रचारक तो भोंपड़ीपर अग्रे हुअे तूँबेका ही शिक्षापात्र बनाकर शरीरपर ओढ़नेके वस्त्रोंको लाल मिट्टीसेरंगकर 'न धनेन न प्रजया त्यागेनैकेन अमृतत्त्वमानशुः' कहकर धर्म तथा अमृतत्त्वका प्याला संसारको पिलानेके लिये निकल पड़नेवाला सर्वसंगपरित्यागी परिव्राजक है। अस मार्गके आद्य परिव्राजकने तो अत्तर भारतमें ही विहार किया, किन्तु उसके शिष्योंने 'अक्रोधेन जिने क्रोधम्' कहते हुअे सारे युरेशियाको व्याप्त कर दिया।

विविधता सृष्टिका मूलमंत्र है। अतिहास-विधाताकी यह अच्छा नहीं है कि अेक ही संस्कृतिका प्रसार सारे जगतमें हो। विविधतामें अेकताको प्रस्थापित करनेमें ही प्रभुको आनन्द है।

जिसे अेकांगी साक्षात्कार हुआ है उसकी समझमें यह तत्त्व नहीं आता और अिसीलिये अपने ही तत्त्वका सार्वभौमत्व प्रस्थापित करनेके लिये वह निकल पड़ता है। फिर अैसा भी नहीं है कि यह प्रचारक हमेशा निःस्वार्थ ही होता हो।

नूतन तत्त्वप्राप्तिका पुत्रोत्सवके समान आनन्द जब पेटमें न समा सका तब मुसलमानी धर्मको सारे आलममें फैलानेकी गरजसे अस्लामी धर्मवीर आगे बढ़े। आसपासकी जंगली जातियोंको मुसलमानी धर्मकी शुचता आसानीसे पसंद आयी और वे उसमें शरीक हो गये। दूसरी तरफसे मुसलमानोंने आरानी संस्कृतिको स्वीकार किया। लेकिन मुसलमानी धर्मको आलमगीर (सार्वभौम) बनाना हो तो हिन्दू और श्रीसाश्री संस्कृतियोंपर, जो कि पूर्व और पश्चिमके छोरोंको सँभाल रही

थीं, भी विजय प्राप्त करना जरूरी था। दैवयोगसे हिन्दुस्तान और यूरोप दोनों जगह असी असेंमें संघशक्ति नष्ट हो चुकी थी। यूरोपमें छोटे-छोटे राष्ट्र अके दूसरोंसे लड़ मरते थे और हिन्दुस्तानमें अनेक जातियाँ और अनेक छोटे-मोटे राजा 'मैं बड़ा या तू बड़ा कहकर आपसमें झगड़ रहे थे। स्वाभाविक रूपसे ही साहसिक मुसलमानोंके लिये कुरान, तलवार और व्यापार प्रसार करना आसान होगया। मुसलमानोंने स्पेनके अंदर अल्-अन्ध्राल (लाल महल) बनाया और आगरे में ताजमहल। ताजमहल चाहे जितना सुन्दर क्यों न हो, लेकिन आखिर है तो वह अके कब्र ही। मुमताज बेगमको ही नहीं बल्कि साथ-साथ अरिस्लामी संस्कृतिके विस्तारको भी उसके गर्भमें दफनाया गया।

यूरोपमें असाअधी धर्मका प्रचार तो बहुत ही हुआ था। लेकिन असाअधी धर्मका नस्र नीतिशास्त्र युरोपीय लोगोंके गले कदापि अतुरा न था। अके गालपर तमाचा पड़े तो तुरन्त दूसरा गाल आगे करनेकी तैयारी यूरोपमें किसी भी समय न थी। असी हालतमें मुसलमानी तलवारकी मार शुरू होते ही यूरोपकी क्षात्र-वृत्ति जोशमें आयी और शार्लमान राजाके समयसे लेकर आज तक मुसलमानी सत्ताको धकेल-धकेलकर यूरोपसे बाहर निकाल देनेकी कोशिश चल रही है। अब तो असा मालूम नहीं देता कि मुसलमानी संस्कृतिको सिर्फ यूरोपसे निकाल बाहर करके ही यूरोपीय राष्ट्र सन्तोष मानकर चुपचाप बैठ जायेंगे। अफ्रीका महाद्वीपमें असाअधी और मुसलमानी दोनों धर्म अपना-अपना विस्तार करनेकी कोशिश कर रहे हैं। असमें असाअधी धर्मकी अपेक्षा मुसलमानी धर्मको अधिक सफलता मिलती है जिससे असाअधी लोगोंको बहुत दुःख होता है। ज्यादातर मुसलमान राष्ट्रको तो यूरोपकी जनताने आज व्याप्त कर रखा है। असके परिणामस्वरूप कभी-न-कभी मुसलमानी राष्ट्र फिरसे सजीव होकर

श्रीसाश्री राष्ट्रेंपर हमला किये बिना न रहेंगे। यह तो नहीं कहा जा सकता कि आघात-प्रत्याघातके निर्दय नियमके शिकंजेमें फँसी ये दो संस्कृतियाँ अिस तरह कबतक लड़ती ही रहेंगी, अत्साहके प्रथम जोशमें सारी दुनियाको जीतनेके लिये निकली हुआ अिस्लामी संस्कृतिको यूरपमें जिस तरह शह मिली और अुसका गर्वज्वर अतर गया अुसी तरह हिन्दुस्तानमें मुसलमानी सल्तनतको सिकखों और मराठोंकी तरफसे ज़बर्दस्त विरोध हुआ और यहाँ भी मुसलमानी संस्कृतिका अभिमान चूर-चूर हो गया। 'तुम अपने धर्मका पालन करो, हम अपने धर्मका पालन करेंगे' यह हिंदू धर्मका स्वधर्मरहस्य मुसलमानोंकी समझमें आने लगा है। कुरान शरीफमें भी अेक अैसा वचन है कि 'तुमको तुम्हारा धर्म और हमको हमारा धर्म मुबारक हो।' यह मालूम कर लेना ज़रूरी है कि चुस्त मुसलमान अिस वाक्यका क्या अर्थ लगाते हैं।

श्रीसाश्री धर्ममें, असलमें देखा जाय तो लड़ाअीके लिये स्थान ही नहीं है। मुसलमानी धर्ममें धर्मप्रसारके लिये लड़ना पुण्यप्रद माना गया है। अितना ही नहीं बल्कि असे कर्तव्य समझा गया है। हिन्दू धर्म बीचके मार्गको स्वीकार करता है। हिंदू धर्ममें धर्मानुकूल रक्षाके लिये युद्धको विहित माना गया है। आत्म-रक्षा या धर्मरक्षाके लिये करनेके युद्धको हिंदू धर्म 'यद्दृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्' मानता है।

That thou mayest injure none, dove-like be,
And serpent-like that none may injure thee.

अिस बाअिबलके वचनमें हिंदू तत्त्वका यथास्थित वर्णन किया गया है। हिंदू लोगोंने अपने बचाव का प्रयत्न तो किया है लेकिन बदला लेनेकी बुद्धि अुन्हें कभी नहीं सूझी और अिसीलिये आज हिंदू मुसलमानोंके अेक साथ रहनेकी संभावना कल्पनामें तो आ सकती है।

पश्चिमी संस्कृति अर्थप्रधान है। हिंदू-मुसलमान संस्कृतियों ने जीवनके आर्थिक पहलूकी ओर ध्यान ही न दिया। अस्सके प्रायश्चित्तके तौरपर दोनोंको आज पश्चिमी सत्ताके पाशमें जकड़कर रहना पड़ा है। जीवनको परिपूर्ण बनाना हो, पारमार्थिकके साथ अैहिक कल्याण साधना हो तो जैसा कि श्री वेदव्यामजी कह गये हैं।

धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः

हमने अिसमेंसे अेक अंगके प्रति लापरवाही बरती। अपनी खुशीसे हमने जिस अंगका अनुशीलन न किया अुसका अनुशीलन पराभव और परतंत्रताकी कठोर शालामें अीश्वरने हमसे कराया। पैनाइस्लामिक लोग चाहे जो कहें, लेकिन अिस्लामी संस्कृतिमें जहांगीर बननेका मोह अब नहीं रहा है। जिस तरह हिंदुओंने बैरकी बुद्धि न रखकर सिर्फ अपने बचावके लिये ही विरोध किया अुस तरह हिंदू-मुसलमानोंको अेक होकर सात्त्विक वृत्तिके द्वारा और आत्मिकबलका प्रयोग करके अिस अर्थपरायण पश्चिमी संस्कृतिका विरोध करना चाहिये।

अिस जंगम संस्कृतिका तीसरा नमूना हिन्दूधर्ममेंसे ही निकले हुअे बौद्ध धर्मका है। अिस धर्मको भी सार्वभौम बननेकी पहलेसे लालसा थी। लेकिन अुसके माधन सौम्य और सात्त्विक थे। अिसलिये अुसके विस्तार या संकोचमें रक्तपातकी कोअी आवश्यकता दिखाअी न दी। अिस धर्ममें सत्यका जितना अंश है अुसका प्रसार आप-ही-आप होता है और भ्रामक कल्पनाअें या अहंकार तलमें जमकर रह जाता है। जिस तरह समुद्रमेंसे शुद्ध पानीकी भाप बनकर आकाशमें अुड़ जाती है, और खारा नमक नीचे रह जाता है अुस तरह बौद्ध धर्मका आजतक होता आया है।

हिन्दुस्तान ही सब धर्मोंका ननिहाल है। धर्मोंकी व्यवस्था करने की शक्ति हिन्दुस्तानमें है। हिन्दू संस्कृतिमें जंगमकी अपेक्षा

स्थावर तत्त्व विशेष है। और असल बात तो यह है कि हिन्दू संस्कृतिमें अहंकार नहीं है। सब संस्कृतियोंके समन्वयका प्रथम प्रयोग परमेश्वर हिन्दुस्तानको छोड़ और कहाँ जाकर करेंगे ?

२

जीवन-चक्र

तपस्या, भोग और यज्ञ—यह त्रैक महान् जीवन-चक्र है। मनुष्य किसी कामनासे प्रेरित होकर संकल्प करता है। उस संकल्पकी सिद्धिके लिये मनुष्य जिन-जिन कामोंको उठाता है, वे सभी तपके नामसे पहचाने जाते हैं। वे काम खुद-बखुद अथवा स्वतः प्रिय होते हों, सो नहीं; किन्तु संकल्पसिद्धिकी आशा हीके कारण मनुष्य उनको प्रेमसे या उत्साह-पूर्वक उठा लेता है। इस तपके अंतमें फल-प्राप्ति होती है। फल-प्राप्तिके बादकी क्रिया ही भोग है। फलोपभोग हमारी धारणासे भी गूढ़ वस्तु है। यदि फलोपभोगमें केवल तृप्ति ही होती, तो उसीमें मनुष्यको आत्म-साक्षात्कार हो जाता; पर फलोपभोगके आनन्द ही में विषण्णता भरी होती है। हम हरेक आनन्दमें अनजाने आत्माको प्राप्त करना चाहते हैं। कामना पूर्तिसे मिले हुए आनन्दके बाद त्रैक क्षणमात्र मोहजन्य सन्तोषको प्राप्त कर दिला कहता है, कि मैं जो चाहता था वह यह नहीं है। अतः ही से सचेत होकर यदि मनुष्य कामनाओंसे विमुक्त हो जाय, तो उसे आत्म-प्राप्तिका मार्ग मिल जाय। परन्तु सत्यका मुख सोनेके ढक्कनसे ढका होता है। एक संकल्प परा नहीं होने पाता कि दूसरा संकल्प उसीमेंसे उत्पन्न हो जाता है और इस तरह फिर नयी प्रवृत्तिमें, नये तपमें और नये भोगमें मनुष्य बहने लगता है।

असमें यज्ञको स्थान कहाँ है ? प्रत्येक भोग और कामना-से किया हुआ प्रत्येक तप, प्रकृतिसे लिया हुआ ऋण है। मनुष्य उसे चुकाकर ही ऋण-मुक्त होता है। मुझे अन्न खाना है, इसीलिये मैं जमीन जोतता हूँ, उसमें बीज बोता हूँ, फसल कटनेतक खेतमें परिश्रम करता हूँ और इस तरह जमीनका सार निकालकर उसका भोग करता हूँ। मेरा धर्म यह है कि मैंने भूमिसे जितना सार लिया अतना ही उसे फिर लौटा दूँ। इस तरह भूमिको उसकी पहली स्थिति प्राप्त करा देना ही यज्ञ-कर्म है।

प्रवासमें मैं किसीके यहाँ रात-भर रहा। मुझे रसोई बनानी है, मैं घरवालेके पाससे वर्तन माँगकर लेता हूँ। अब वर्तनोंमें खाना पकाना मेरा तप है; और भोजन करना मेरा भोग। अतना करनेके बाद घरवालेके वर्तन माँजकर, जैसे थे वैसे ही करके, दे देना मेरा यज्ञ-कर्म है।

मुझे तालाब या कुँआरेपर स्नान करना है। मैं पानी निकाल लेता हूँ तो वह मेरा तप है, स्नान करता हूँ तो वह मेरा भोग है। अब यज्ञ कौनसा ? बहुतेरे मनुष्य—लगभग सभी—विचारतक नहीं करते कि असमें कोआ क्रिआ बाकी रह गयी है। शास्त्रोंमें लिखा है, 'यदि तुम तालाबमें स्नान करो तो जितनी तुमसे हो सके उसकी कीचड़ निकालकर बाहर फेंक दो।' यही हमारा यज्ञ-कर्म है। यदि कुँआरेमें नहाते हों तो उस कुँआरेके आसपासकी गंदगीको दूर करना हमारा आवश्यक यज्ञ-कर्म है।

गीता कहती है, जो इस तरहका यज्ञ-कर्म नहीं करता वह चोर है। वह पापी मनुष्य शरीरको तकलीफ देना नहीं चाहता (अघायुरिन्द्रियारामः); समाजकी सेवा तो ले लेता है, पर उससे आधार ली हुआ चीज लौटाना नहीं जानता।

जो मनुष्य भोग करता है, पर यज्ञ नहीं करता, उसका यह लोक भ्रष्ट होता है, फिर उसके लिये परलोक तो कहाँ से होगा ?

अस यज्ञ-कर्मका लोप हो जानेसे ही हिंदुस्तान कंगाल और पामर बन गया है। हम स्त्रियोंसे सेवा लेते हैं, परन्तु उसका बदला उन्हें नहीं देते। किसानोंके परिश्रमका भोग करते हैं, पर जिससे किसानोंकी भलायती हो ऐसा यज्ञ-कर्म नहीं करते। हम अन्त्यजोंको समाज-सेवाका पाठ पढ़ाते हैं, बल-पूर्वक भी उनसे सेवा लेते हैं, पर उनके अद्भुत-रूपी यज्ञ-कर्म तकको न करने जितने हरामखोर हम बन गये हैं। हम सार्वजनिक लाभ प्राप्त करनेको मदा दौड़ते हैं, किन्तु कर्तव्यों का पालन शायद ही कभी करते हैं। अससे सारा समाज दिवालिया बन गया है।

मोक्ष-शास्त्र कहता है—‘न्यायके लिये भी तुम्हें यज्ञ करना चाहिये। भोगके लिये किया हुआ तप आधा कर्म हुआ; यज्ञ-कर्म उसकी पूर्ति है। तुम तप तो करते हो, पर यज्ञ नहीं करते; असीसे तुम्हारी वासनाओं अनियन्त्रित रूपसे बहती हैं। यदि तुम यज्ञ करने लगो तो भोगकी अिच्छा जरूर मर्यादित रहेगी; तुम्हारा जीवन पापशून्य हो जायगा।

हरेक बालकके जन्मके बाद शिशु-संबंधके लिये स्त्री-पुरुष यदि सात वर्ष ब्रह्मचर्यमें बितानेका निश्चय कर लें तो उन्हें दीन बनकर समाजकी दया पर आधार रखनेका मौका अनुपर नहीं आ सकता।

यज्ञ करनेके बाद—ऋण चुकानेके बाद—मनुष्य जो तप करता है, जो भोग भोगता है, उसका वह अधिकारी होता है, उससे उसे किल्मिष (पाप) नहीं प्राप्त होता। उसकी प्रवृत्ति निष्पाप और अन्नति-कारिणी होती है। पर यदि

मोक्ष प्राप्त करना हो तो प्रवृत्तिको छोड़ देना चाहिये--अर्थात् कामना, तत्प्रीत्यर्थ किया जानेवाला तप और अशुभ तपके द्वारा अतृप्त फलका अपभोग अत्रि तीनोंको त्याग देना चाहिये। परन्तु यज्ञको तो किसी तरह छोड़ ही नहीं सकते। निष्काम—ज्ञानपूर्वक यज्ञ—कार्यमेव—करना ही चाहिये। अशुभसे पुराना ऋण चुका जाता है, अपने सम्बन्धियोंका ऋण टल जाता है, समाजका सर्व-सामान्य भार कम होजाता है, पृथ्वीका भार हलका हो जाता है, श्री विष्णु संतुष्ट होते हैं और मनुष्य मुक्त हो जाता है।

हम जो जी रहे हैं, अशुभमें सैकड़ों व्यक्तियोंका ऋण हम लेते हैं। प्राकृतिक शक्तियोंका तो ऋण है ही, समाजका ऋण भी है, माता-पिताका ऋण भी है, समाजको हर प्रकारसे संस्कारी बनानेवाले पूर्व-ऋणियोंका भी ऋण है, और कुल-परम्पराकी विरासत हमारे लिये छोड़ जानेवाले माता-पिताओंका भी ऋण है। ये सब ऋण पंचमहायज्ञों द्वारा चुका देनेके बाद ही मनुष्य भुक्ति या मुक्तिका विचार कर सकता है।

इस यज्ञ-कर्ममें पर्यायसे काम नहीं चलता। ऋण जिस तरहका हो, यज्ञ भी अशुभ तरहका होना चाहिये। विद्या पढ़कर गुरुसे लिया ऋण गुरुको दक्षिणा भर दे देनेसे नहीं चुकता; बल्कि गुरुके दिये ज्ञानकी रक्षा कर और अशुभसे बढ़ाकर नश्वरी पीढ़ीको देना ही सच्चा यज्ञ-कर्म है। सृष्टिमें नवीन कुछ भी नहीं होता। जो-कुछ है अतने हीमें काम चला लेना चाहिये। अशुभलिये हम अपनी चेष्टाओंसे साम्यावस्थाका जितना ही भंग करते हैं, अतना ही अशुभसे फिर समान कर देना परम-आवश्यक यज्ञ-कर्म है। आकाश जितनी भाप लेता है अतना ही पानी फिर दे देता है। समुद्र जितना पानी लेता है अतनी ही भाप वापस दे देता है। अशुभसे सृष्टिका महान् चक्र बेरोक-

टोक चलता है। यज्ञ-चक्रको ठीक-ठीक चलाते रहना शुद्ध प्रवृत्ति है। निष्काम होकर त्याग-भाव से, कम-से-कम जहाँतक अपना सम्बन्ध है, जिस चक्रका वेग घटाना ही निवृत्ति धर्म है। कुछ भी काम न करना निवृत्ति नहीं, वह तो बिल्कुल हरामखोरी ही है।

प्रजाका निर्माण करके प्रजापतिने उसके साथ यज्ञका भी निर्माण किया, इसीलिये प्रजापतिके अपरका बोझ हलका हो गया और इसीलिये प्रजाओंको स्वावलम्बनकी स्वतंत्रता मिली, मोक्षकी संभावना रही।

३

सुधारोंका मूल

रेलमें कच्ची बार भोड़ न होनेपर भी लोग भगड़ा करते हैं। यदि हरेक मनुष्य अपने बैठने योग्य जगह लेकर बैठ जाय तो सभी सुखसे बैठ सकें; पर कितने हो लोग बिना कारण स्वार्थी और मनुष्य-शत्रु होते हैं। उनका यह हठ होता है कि लड़-भिड़कर जितनी जगह रोकी जा सके उनही रोककर ही हम मानेंगे; फिर परवा नहीं, यदि उन्हें ऐसा करते हुअे ज़रा भी आराम न हो, बल्कि उन्हें झुलटा दुःख भी झुठाना पड़े। बेंचके ऊपर अधिक जगह रोकनेके लिये यदि बिस्तर न हो तो वे पालथी हों। मारकर बैठेंगे, और उस पालथीको भी अतनी पोली करेंगे कि पैरोंकी सन्धियाँ दुखने लग जायँ ! जबतक उनकी लात दूसरेको न लग जाय, जबतक उनके मनमें यह विश्वास ही नहीं होता कि हमारे स्वार्थ की पूरी रक्षा हुआ है। ऐसा न करके अगर हरेक मनुष्य सज्जनताके साथ एक-दूसरेकी सुविधाका खयाल रखते हुअे संतोष वृत्तिका विकास करे तो किसीको भी दुःख न हो और सभी आरामसे प्रवास कर सकें।

शहरों और देहातमें जब लोग घर बनवाते हैं, उस वक्त भी अिसी प्रकार पड़ौसी-पड़ौसीमें भगड़ा हो जाता है। उस जगह भी लोग सुख-दुःख अथवा सुविधा-असुविधा आदिका विचार छोड़कर महज स्वार्थ-धर्मके प्रति वफादार बने रहनेके लिये ही कअीबार लड़ते हैं। यदि मेरी अेक बालिशत-भर जमीन पड़ौसीको देनेसे मेरी कुछ भी हानि न होती हो और मेरे पड़ौसीको वह मिल जानेसे उसकी अुत्तम सुविधा हो जाती हो, तो भी मुझसे वह स्वार्थ नहीं छोड़ा जाता; मेरा जी ही नहीं होता। कदाचित् मुझमें अिस वक्त कहीं सद्बुद्धि आ भी जाय, तो मेरे सगे-सम्बन्धी या अड़ोस पड़ोसके लोग मुझे दुनियादारीकी चतुराअी सिखानेके लिये आते हैं—‘तू पागल तो नहीं हो गया है ? अिस तरह कर्ण-सा दानवीर बनकर परोपकार करने लगेगा तो लोग तुझे दिन-दहाड़े बाबाजी बना देंगे। कुछ बाल-बच्चोंके लिये भी रक्खेगा या नहीं ? अरे ! उसका तो काम ही रुक रहा है, पाँच-सात सौ रुपये माँग ले उससे। तेरा तो हक ही है; छोड़ता क्यों है ? न दे रुपये तो सोता रहे अपने घरमें ! और हमें गरज ही क्या पड़ी है ? जमीन अपनी कहीं भागे थोड़े ही जाती है।’ स्वार्थ-धर्मकी यह आज्ञा अस्वीकृत हो ही नहीं सकती। स्वार्थ-धर्मके आगे पड़ौसी-धर्म फीका पड़ता है अथवा नष्ट हो जाता है। अिसलिये अिम युगका नाम कलियुग पड़ा है। कलि का अर्थ है कलह।

दो कुटुम्बोंके बीच जब विवाह-सम्बन्ध जोड़ा जाता है, तब भी यही दशा होती है। जो पराये थे वे सम्बन्धी हुआे. अतअेव वहाँ तो प्रेम-धर्मका व्यवहार चाहिये; पर नहीं, वहाँ भी व्यवहार-रीतिकी कलह अुत्पन्न होगी ही। मान-सम्मानमें कहीं छोटी-से-छोटी रीति भी रहने न पावे। मालिकके यहाँ गालियाँ भी सुननी पड़ती हो तो परवा नहीं, दफ्तरों में अफसरोंकी फटकारें नीचा सिर करके सुन सकते हैं, परन्तु समधीके पाससे तो रीतिके

अनुसार पूरी चीजें जरूर ही मिलनी चाहिये; नहीं तो दूलहको लोटा ले जानेको तैयार हो जाते हैं। विवाहका मंगलाचरण होता है और्घ्या और डाहसे ! यही दशा है जातियोंकी। पारस्परिक अविश्वास और असीम स्वार्थ-परता। किसीमें अितनी हिम्मत ही नहीं कि अपने स्वार्थको छोड़ दे। यह कायरता ! जहाँ देखिये तहाँ यह बुराअ़ी फैली हुआ है।

जब घरोंमें और जाति-पाँतिमें यह दशा है, तब राष्ट्रों-राष्ट्रोंके बीच दूसरा और हो ही क्या सकता है ? यदि पड़ोसी राष्ट्र निर्बल हो तो उसपर जरूर ही आक्रमण करना चाहिये। यदि वह बलवान हो तो हमेशा उसका डर मनमें रखना चाहिये और अ़ुमके खिलाफ़ दूसरे ताक़तवर राष्ट्रोंके साथ मिलकर कोअ़ी पड़यंत्र करना चाहिये। यह भी नहीं कि समान-बल पड़ोसी हो तो शांति से रहे। क्योंकि मनुष्यको समानता कब प्रिय लगती है ? वहाँ भी अ़ेकसे दूसरा अ़ागे बढ़नेके लिये प्रयत्न करता रहता है अ़िसीलिये अन्तमें वहाँ भी अविश्वास और विरोध आ जाता है। हरेक पक्ष यही कहता है, कि अपने बचाव तथा आत्म-रक्षणके लिये हमें अ़ितना तो करना ही पड़ता है। दो प्रबल राष्ट्रोंके बीच यदि अ़ेक छोटा-सा राष्ट्र हो, तब प्रबल राष्ट्र यों विचार करते हैं :—‘यदि मैं अ़िसे न खालू तो वह (दूसरा) तो जरूर ही अ़िसे खा लेगा और अ़िसे खाकर बलिष्ठ बना हुआ वह मुझपर जरूर आक्रमण करेगा। अ़िसलिये क्या बुरा होगा, यदि मैं ही वह अन्याय करूँ ? जितने साम्राज्य बढ़ते हैं, सब अ़िसी नियमानुसार बढ़ते हैं।

स्वार्थ और अन्यायकी यह प्रतिस्पर्धा आज यूरोपमें सर्व-व्यापी हो गअ़ी है और अ़िसी सिद्धांतपर अ़ुसकी राजनीति चलती है। किन्तु अ़िससे यह मान लेना भूल है कि यह तो मनुष्य-स्वभाव ही है। भले ही यूरोप आज सुव्यवस्थित पाश-विक शक्तिको सुधार मान ले, पर सच्चा सुधार तो प्रेम-धर्म

और पड़ौसी-धर्ममें ही है। हमें श्रद्धापूर्वक अपने अंदर अिस पड़ौसी-धर्मका विकास करना चाहिये। जो सज्जनता दिखलाते हों अुनके साथ मैत्री और जो दुर्जन बन गये हों अुनके साथ असहयोग करना, यही प्रेम-धर्मका नियम है। प्रेम-धर्म सहानुभूति रखता है, सहायता देता है, परन्तु दीन बनकर सहायताकी अपेक्षा नहीं करता। प्रेम-धर्म निर्भय होता है अिसीलिये वह अमर्यादित है। हम जिससे प्रेम करते हैं, यदि अुसकी शक्ति बढ़ती है तो हमें भय नहीं होता; बल्कि हमारा मित्र जितना ही निर्बल होगा, अुतने ही हम कमजोर माने जायँगे।

जहाँ अविश्वासका वातावरण हो, वहाँ अुसे दूर करनेके लिये प्रेम असाधारण धैर्य और सहिष्णुताका विकास करता है; नम्र बनकर वह चढ़ता है और असीम स्वार्थ-त्याग करके विजयको प्राप्त करता है। प्रेम-धर्ममें थोड़े दिनके लिये गँवाना जरूर पड़ता है, लेकिन अंतमें अुसकी अक्षय विजय होती है। अिस प्रेम-धर्मका अुपयोग कुटुम्बसे लेकर राष्ट्रोंके संबंध पर्यन्त फैला देना, यही सब सुधारोंका मूल है; और वही फल भी है।

४

सुधारकी सच्ची दिशा

मनुष्यकी स्वाभाविक वृत्तियाँ और अुसकी सद्वृद्धि अेक-दूसरेके अनुकूल (समरस) जब होंगी तब होंगी, आज तो वस्तुस्थिति वैसी नहीं है। आज तो अिन दोनोंमें विरोध है। आज तो जो सीठा लगता है वह पथ्यकर नहीं होता। जो सुखप्रद प्रतीत होता है वह कल्याणकर नहीं होता। जो प्रेय होता है वह श्रेय नहीं होता। कर्त्तव्य-मार्ग दुःखदायी लगता है और सुखका मार्ग हितकर नहीं लगता। हमारी स्वाभाविक वास-

नाओं हमें आप-ही-आप पशु-जीवनकी ओर खींचकर ले जाती हैं। ईश्वरने मनुष्यको वह विवेक-बुद्धि दी है, जो पशुको नहीं दी। पशुओंको कार्याकार्य-विचार नहीं होता; मनुष्यको यह विचार करना पड़ता है। पर हमारी वासनाओं कच्ची बार अतिनी प्रबल हो जाती हैं कि विवेक-बुद्धिको दबाकर वे तर्क-शक्तिको अपने अधीन कर लेती हैं और यह तर्क-शक्ति न्याया-न्यायका किसी तरह विचार न करनेवाले पेट-भरू वकीलके समान वासनाओंका पक्ष लेती हैं। जो सुखकारी है वही कल्याणकारी है; जो प्रेय है वही श्रेय भी है—अस तरहकी दलीलोंकी पूर्ति करनेमें तर्क-शक्ति खर्च होती है। त्यागके आनन्दको भूलकर भोगकी लालसा वृद्धि पाती है। तर्क-शक्ति भी मधुरवाणीसे कहती है—‘मनुष्य-जन्म भोग हीके लिये तो है, नाना प्रकारके विषयोंका अपभोग करना मनुष्यका हक है। अस अधिकारका लाभ उसे जरूर अठाना चाहिये। भोग हीमें तो मानव-जन्मकी सफलता है। भोग-क्षमता ही संस्कृति है, यही सुधार है।’ अस तरह अधर्मको धर्म समझनेसे आत्मवंचना होती है।

अस तरह बहुतेरे लोग वासनाओंके वश हो गये हैं। अब तो किसे ‘सु’ कहें और किसे ‘कु’ कहें यही नहीं सूझ पड़ता। अचुच्छद्मल मनको तर्क-शक्तिका आधार मिलनेपर आनेवाली अनर्थ परम्पराको कौन रोक सकता है? जिससे आत्म-संयम नहीं हो सकता, उसे मनुष्य-जाति कितना ऊँचा चढ़ा सकती है। असकी कल्पना किस तरह हो सकती है। ऐसे लोग मानव-जातिका ध्येय कैसे निश्चित कर सकते हैं? मानव-जातिका श्रेय क्या है? अशुच वृत्तियाँ कौन-सी हैं? आर्य-जीवन कैसा होता है? अर्हत् पदका मार्ग कौन-सा है? समाजका अन्तिम ध्येय क्या है? आदि विषयोंका निर्णय ऐसे अनधिकारी मनुष्य नहीं कर सकते। धन-लोभके कारण कृपणका

हृदय शून्य हो जाता है। अससे यदि ये ही सवाल पूछेंगे तो वह कहेगा—“धन ! द्रव्य ही तो मानव-जातिका ध्येय है। ‘अर्थो हि नः केवलम्’।” शृङ्गार-पूर्ण अपन्यासोंको पढ़नेवाले स्त्री-लंपट मनुष्यसे यदि हम पूछेंगे तो वह भी तुरन्त “रम्या रामा मृदुतनुलता” की बातें करने लगेगा। अिसी तरह क्रिकेट और टेनिसके खेलनेवाले कहेंगे कि हमारे खेलों हीसे मनुष्य की अुन्नति होगी। गाना-बजाना, ताश या शतरंज खेलना, घुड़दौड़ करना और चिड़िया पालना अित्यादि धुनों हीमें जो लोग मस्त रहते हैं अुनसे पछा जाय कि, ‘भाइयो ! मानव-जाति का अंतिम ध्येय क्या है ?’ और फिर अुनमेंसे अेक-अेकके जवाब सुन लिये जायँ !

अैसे अनासक्त साम्यस्थित मनवाले महात्मा ही, जिन्होंने पशु-वृत्तिपर विजय प्राप्त की है और जिनका मन लुद्र स्वार्थ-के वश नहीं है, यह ठीक समझ सकते हैं कि मनुष्यका श्रेय किसमें है। जिस तरह वादी-प्रतिवादी यह नहीं देख सकते कि मुकदमेमें न्याय किसके पक्षमें है, निष्पक्ष पंच ही अुसे देख सकते हैं, अिसी तरह मानव-जातिका ध्येय क्या है, अिस बात-को निरपेक्ष और धर्मज्ञ स्मृतिकार—समाजके व्यवस्थापक—ही बतला सकते हैं। मनुष्य-जाति अपनी पशु-वृत्तिपर विजय प्राप्त करके कितनी ऊँची चढ़ सकती है, यह बुद्ध, अीसा और तुकाराम जैसे अनेक महात्माओंने प्रत्यक्ष उदाहरणसे बतला दिया है। संसारके सभी देशोंमें, सभी जातियोंमें, सभी धर्मोंमें और सभी युगोंमें अैसे दैवी पुरुष अुत्पन्न हुआ हैं। अिसपरसे सिद्ध है कि प्रत्येक मनुष्य प्रयत्न करनेपर अुस भूमिकातक पहुंच सकता है।

कहा जाता है कि मनुष्य-प्राणी अपने पुरुषार्थसे क्या-क्या कर सकता है, कहाँतक अपनी अुन्नति कर सकता है, अित्यादि

का यथार्थ पाठ देनेके लिये तथा मनुष्य-प्राणीके लिये उसका ध्येय निश्चित कर देनेके लिये परमेश्वर अवतार लेकर, मानव-देह धारण करके, मानवी कृतियां करता है। जिस कथनका रहस्य भी यही है। ध्येय तो मानव-जातिकी अन्नतिकी पति-सीमा है। उसे किसी खास समय खास व्यक्ति और उस व्यक्तिकी शक्तिके अनुसार बदलना नहीं होता। अंक भी मनुष्य यदि जिस ध्येयको प्राप्त करके दिखा दे तो समझना चाहिये कि वह असम्भव नहीं है।

जिस दृष्टिसे देखें तो मनुष्यके जीवन-क्रमके दो सिरे होते हैं। एक सिरपर विषय-लोलुपता, आहार-निद्रा-भय आदि पशुव्यवहार-परायणता, स्वार्थ तथा हक होता है; दूसरी ओर निर्विषयता, निर्भयता, अन्द्रिय-दमन, परोपकार-परायणता और कर्तव्य होते हैं। हरेकको अपनी शक्ति और परिस्थितिके अनुसार जिस कुछ ध्येयको अमलमें लानेका प्रयत्न करना चाहिये। परन्तु अपने पीछे रहनेवालोंको जंगली या पापी कहकर उनकी हँसी न झुड़ाना चाहिये। इसी प्रकार अपनेसे अधिक उत्साही व्यक्तिओंको पागल कहनेसे भी काम न चलेगा। और चाहे कुछ भी हो, अच्चतम ध्येयको किसी भी समय अशक्य या अप्राप्य करार देना तो सरासर भूल है। क्योंकि यदि हम ध्येयको एक बार भी उसके कुछ आसनसे नीचे गिरा देंगे तो उसका शतमुखसे नहीं बल्कि अनंत मुखसे विनिपात हो जायगा। जो स्थिर नहीं वह ध्येय कैसा ? और उसके लिये स्नेह, दया, सुख और जीवन जिन सभीको तिलांजलि देनेको तैयार होने योग्य निष्ठा मनुष्यमें किस तरह उत्पन्न हो ? जिसलिये ध्येयको अपनी ऊँचाईसे कभी न गिराना चाहिये। आराध्य-देवताके समान हमेशा उसीकी अपासना होनेनी चाहिये और उसके साथ उत्तरोत्तर सालोक्य, सान्निध्य,

सारूप्य और सायुज्य प्राप्त करनेका प्रयत्न होना चाहिये। जो पीछे रह गये हों अन्हें आगे ले जाना चाहिये। जो आगे बढ़ गये हों अन्हें अुससे भी आगे बढ़ना चाहिये। ध्येयको पा जाने तक किसीको कभी न रुकना चाहिये।

सभी सामाजिक सुधार अिस अुच्च ध्येयकी, कर्त्तव्यकी अिन्द्रिय-निग्रहकी और संयमकी दिशामें होने चाहिये। जो नीचे हों अुन्हें अूँचा अुठा देना चाहिये। जो अूँचे हों अुन्हें नीचे गिराना, पवित्र ध्येयको छोड़कर सुखप्रद देख या मानकर अधोगामी ध्येयकी अुपासना करना तो कुधार है, सरासर अधःपात है।

आजकल सुधार तो सब चाहते हैं, परन्तु 'सु' और 'कु' के बीचके भेदको कोअी भी नहीं देखते। पिनल-कोडने जिसे अपराध नहीं माना, कल पास होकर आज ही से रौब गाँठनेवाले डाक्टरोंने जिसे निषिद्ध नहीं समझा वह सब करनेका हमें अधिकार है—हम वह जरूर करेंगे। पूर्व-परम्परा, अुच्च मनोवृत्ति, जिसकी रक्षा और विकास आजतक किया अुस पवित्रताकी भावना, शास्त्र (रूढ़ियोंका तो पूछना ही क्या,) सबको हम धता बता देंगे; यह है आजके हमारे समाज-सुधारकोंकी मनोवृत्ति। यह मैं नहीं कहना चाहता कि अिनके कार्यक्रमकी सभी बातें त्याज्य हैं, मगर, अिन सभीकी जड़में जो वृत्ति है, अुसके प्रति विरोध अवश्य है। अपने सभी सामाजिक व्यवहारमें न्याय और अुदारता होनी चाहिये। किसीपर टीका-टिप्पणी करते समय—मनुष्य-प्राणी स्वलनशील है, अिन्द्रिय-समूह बलवान है, परिस्थितिके सामने मनका निश्चय स्थिर रहना कठिन है, आदि सभी बातों पर ध्यान देकर, यदि किसीसे कोअी भूल हो गअी हो तो—अुस पर क्रोध और तिरस्कार हमें न करना चाहिये; बल्कि दया, अनुकम्पा और सहानुभूति ही दिखानी चाहिये। जहाँ सामाजिक

अन्याय हो रहा हो, वहाँ श्रुतार्थोंका रक्षण-पालन करना भी हमारा कर्त्तव्य है। सामाजिक आदर्शको नीचे गिराना कदापि योग्य नहीं है। और जो सुधार करते हैं वह ऐसे होने चाहिये जिनसे सामाजिक न्याय, पवित्रता और सामर्थ्य बढ़े।

५

संयममें संस्कृति

संयम संस्कृतिका मूल है। विलासिता, निर्बलता और अनुकरणके वातावरणमें न संस्कृतिका अद्भव होता है और न विकास ही। जिस तरह पच्चीस वर्ष तक दृढ़ ब्रह्मचर्य रखनेवालेकी सन्तान सुदृढ़ होती है, उसी तरह संयमके आधारपर निर्माण की हुआ संस्कृति प्रभावशाली और दीर्घजीवी होती है।

ऋषियोंने तप और ब्रह्मचर्यके द्वारा मृत्यु पर विजय प्राप्त करके अनेक अमर संस्कृतिको जन्म दिया। बुद्धकालीन भिक्षुओं और भिक्षुणियोंकी तपश्चर्याके परिमाण-स्वरूप ही अशोकके साम्राज्यका और आर्य-संस्कृतिका विस्तार हो पाया। शंकराचार्य की तपश्चर्यासे हिन्दू-धर्मका संस्कार हुआ। महावीर स्वामीकी तपस्यासे ही अहिंसा-धर्मका प्रचार हुआ। सादा और संयमी जीवन बिताकर ही सिख गुरुओंने पंजाबमें जाग्रतिकी। त्यागके झंडेके नीचे ही सीधे-सादे मराठोंने स्वराज्यकी स्थापना की। बंगालके चैतन्य महाप्रभु मुख-शुद्धिके लिये आवश्यकतासे अधिक अनेक भी हर न रखते थे, अन्हींसे बंगालकी वैष्णव-संस्कृति विकसित हुअी। संयम हीमें नयी संस्कृतियोंको उत्पन्न करनेका सामर्थ्य है। साहित्य, स्थापत्य, संगीत, कला और विविध धर्म-विधियाँ संयमकी अनुगामिनी हैं। पहले तो संयम कर्कश और

नीरस लगता है, परन्तु असीसे संस्कृतिके मधुर फल हमें प्राप्त होते हैं।

जो लोग कलाके साथ पक्षपात करके संयमकी अप्रतिष्ठा कर देना चाहते हैं वे कलाको भ्रष्ट कर देते हैं और संस्कृतिकी जड़ ही पर कुठाराघात करते हैं।

६

पञ्चमहापातक

शास्त्रोंमें अनेक तरहके पापोंका वर्णन है। भूठ बोलना, हिंसा करना, चोरी करना अत्यादि अनेक पाप तो हैं ही किन्तु पापोंका अनेक और भी प्रकार है, जिसका नामोच्चार और निषेध होना जरूरी है। ये पाप अिन सामान्य पापोंसे कम भयंकर नहीं हैं। भयभीत दशामें रहना, अन्याय सहना, पड़ौसीके साथ होनेवाले अन्यायको चुपचाप देखते रहना, आलस्यमें जीवन बिताना और अज्ञानको दूर करनेका प्रयत्न न करना—ये भी पाँच महापाप हैं। अिनमें अपनी आत्मा हीके प्रति द्रोह है। संसारमें जहाँ-जहाँ अन्याय होता है, वहाँ-वहाँ अत्याचार करनेवाला स्वयं तो पापी होता ही है, पर अत्याचारको सह लेनेवाला भी कम पाप नहीं करता। जो मनुष्य स्वयं दुर्बल या डरपोक बनकर दूसरोंको अत्याचार करनेके लिये ललचाता है, वह भी समाजका कम द्रोह नहीं करता। यात्री-समूहमें जो मनुष्य सबसे धीरे चलता हो, सभी समुदायको असीकी चालसे चलना पड़ता है। निर्बल लोग संघकी गतिको रोकते हैं। ठीक अिसी तरह, जो लोग मनुष्यकी जीवन-यात्रामें ढीले और डरपोक होते हैं, वे भी मनुष्यकी प्रगति को रोकते हैं। जैसे हम निर्बलोंका साथ पसन्द नहीं करते, वैसे ही अुन्नति-मार्गपर चलनेवाली जातियाँ निर्बल और अन्याय-सहिष्णु लोगोंको पसन्द नहीं करतीं।

परन्तु मानव-समुदायमें चुनाव करना किसीके हाथमें नहीं । असि संघको तो श्रीश्वर हीने तैयार किया है और वही स्वयं असिका नेता भी है । असिलिये जितना ही हम असि संघसे पीछे रहते हैं अतना ही हम असि संघके नायक का द्रोह करते हैं ।

अज्ञानी रहना भी अेक महापाप है । वह भी संघ-द्रोह या समाज-द्रोह ही होगा, यदि हम अतना ज्ञान भी प्राप्त न करलें कि जितना हम कर सकते हैं, अथवा जितना जीवन-यात्राके लिये निहायत जरूरी है । विशेषकर जिनके सिरपर अनेक मनुष्योंको राह बतलाकर अन्हें ले चलनेका अत्तरदायित्व पड़ा हुआ है, जो समाजके अग्रगण्य नेता समझे जाते हैं, यदि वे संसारकी स्थिति से, समाजके वर्तमान आदर्शसे और संसारके सम्मुख समुपस्थित बड़े-बड़े प्रश्नोंसे अभिज्ञ न रहें तो अन्हें वही पाप लगेगा जो समाजघातका होता है । हिन्दू-समाजमें राजा और साधु दोनों वर्ग समाजका अगुआपन करते आये हैं । अेक श्रीमान् होता है, दूसरा अकिञ्चन । अेक बड़े परिवारवाला है तो दूसरेका परिवार ही नहीं होता । अेक सत्ताके बल कार्य करता है, दूसरा सत्यके बल । अेकमें प्रभुता होती है, दूसरेमें होता है वैराग्य॥ अैसे परस्पर भिन्न जीवनवाले और भिन्न आदर्शवाले वर्गके हाथमें समाजका अगुआपन सौंपकर प्राचीनकालमें समाज-व्यवस्थापकों-ने समाजकी अुन्नतिका मार्ग सुरक्षित कर दिया था । किंतु दुर्भाग्य-वश अिन दोनों वर्गोंको अपनी सम्पूर्णताके भ्रमने पछाड़ा । दोनों वर्गोंने अज्ञानी रहनेका पाप किया और समाज-द्रोह अुनके सिरपर आ पड़ा । साधुगण षट्दर्शन-प्रवीण भले ही हों, भले ही दश ग्रन्थ अुन्हें मुखाग्र हों, किंतु जबतक वे जगत्की परिस्थितिको न समझेंगे, समाजकी नब्जकी परीक्षा न कर सकें और समाजको असुकी अपनी भाषामें यह न समझा सकें कि अुनकी अुन्नतिका मार्ग किस दिशामें है, तबतक वे अज्ञानी ही हैं । स्वामी

विवेकानंद और स्वामी रामतीर्थ जैसे साधुओंकी अतिनी प्रतिष्ठा क्यों हुआ ? अिसीलिये कि वे अपने सामाजिक कर्तव्यों को पहचानते थे ।

राजाओंकी भी यही बात है । पुरुषार्थके बाद लक्ष्मी आती है, अिस बातको भूलकर लक्ष्मी अिकट्टी करनेकी धुनमें वे पुरुषार्थको खो बैठे हैं । समाजका नेतृत्व करनेके बदले अुसे दबाने हीमें अन्होंने अपनी शक्तिका व्यय किया है ।

७

खून और पसीना

हम शरीरका मैल पानीसे धो सकते हैं, कपड़ोंका मैल साबुनसे धो सकते हैं, बर्तनोंके द्वारा अिमली या किसी अन्य खटाअीसे मिटा सकते हैं, परन्तु सामाजिक दोष और राष्ट्रीय पाप किस पदार्थसे धोये जा सकते हैं ? अुसके लिये शाब्दिक प्रायश्चित्त काफी नहीं है । नदियों या समुद्रमें जाकर स्नान कर लेनेसे काम नहीं चल सकता । वह तो अन्तःकरणके प्रायश्चित्तसे और आन्तरिक परिवर्तनसे ही साफ हो सकता है । राष्ट्रीय और सामाजिक पापको धोनेके लिये साधारण पानी काम नहीं दे सकता, वह तो हमारे खून और हमारे पसीनेसे ही धोया जा सकता है ।

अिसीसे अीश्वरकी योजनाके अनुसार प्रत्येक धर्मकी स्थापनाके पूर्व मनुष्योंका गरम खून बहा है । खूनकी दीक्षा हीसे हृदय पलटता है और पाप धुल जाते हैं । खून हीसे अिस्लाम-धर्म स्थापित हुआ, खून हीसे यूरोप जैसी कड़ी जमीनमें अीसाअी-धर्मकी जड़ मजबूत हुआ, खून हीसे सिख-धर्म फूला-फला, और अीश्वरेच्छा यही मालूम होती है कि सत्याग्रहभी खून हीके द्वारा विश्वमान्य होगा ।

खून और पसीनेमें कोअरी भेद नहीं है। जैसे दूध और घी दोनों खून और माँसके निचोड़ हैं, वैसे ही पसीना भी मनुष्यके खून हीका द्रव है। किसीपर जबरदस्ती करके अस्वसे सेवा लेना, अस्वका पसीना बहाना, अस्वका वध करनेके समान ही है। फर्क यही है कि वह सुधरा हुआ, सूक्ष्म और धीरे-धीरे अस्व करनेवाला है। गुरु-का-बागमें डण्डोंकी मारसे सरकार खून बहावे और हिन्दुस्तानकी दीन प्रजाको अपने सैनिक खर्चको चलानेके लिये निचोड़ डाले तो अस्वमें कोअरी तात्त्विक भेद नहीं है। अस्वसी प्रकार अफ्रिकाके जंगली मनुष्योंको मारकर खाने और सेठोंके गुलामोंकी मजदूरीसे पैसे खानेमें भी कोअरी तात्त्विक भेद नहीं। किसी देशकी प्रजाको गुलाम बना, अस्वसे जबरदस्ती मजदूरी लेकर, अस्वसे शर्तबन्द कुलियोंकी हालतको पहुँचा देना भी अतना ही बड़ा मनुष्य-वध है, जितना कि किसी देशपर चढ़ाअरी करके अस्वके लाखों निवासियोंको जानसे मार डालनेमें है।

दूसरेके खूनको बहानेके समान कोअरी महापाप नहीं। अस्वसी तरह इच्छापूर्वक और ज्ञानपूर्वक अपने खूनका बलिदान करनेके बराबर प्रायश्चित्त भी नहीं। जिस प्रकार दूसरेका खून लेनेके बदले अस्वका पसीना लेनेका अक नया तरीका संसारमें निकला है, अस्वसी प्रकार अपने खूनका बलिदान करनेके बजाय अपना पसीना दे देना अधिक सशास्त्र प्रायश्चित्त है। पापी मनुष्य जब चाहे तभी दूसरेका खून कर सकता है; परन्तु दूसरेका पसीना तो अस्वके सहयोग हीसे अस्वसे मिल सकता है। अस्वके विपरीत, जहाँ प्रायश्चित्तमें हम खून देनेको तैयार होते हैं वहाँ हम अपना खून तभी दे सकते हैं जब अालिम हमारी सहायता करे। पंजाब-सरकारकी सहायता न होती तो शूरवीर अकालियोंको धर्मके लिये अपना खून अर्पण करनेका अवसर कैसे मिलता ?

परन्तु हम अपना पसीना, तो जब चाहें स्वेच्छासे बलिदानमें दे सकते हैं। जिसमें अत्याचारीकी सहायताकी आवश्यकता नहीं। राष्ट्रीय प्रायश्चित्तमें आत्मशुद्धिके लिये, स्वतन्त्र देवीके प्रीत्यर्थ बलिदानमें अपना पसीना, अपना परिश्रम, अविश्रान्त श्रम अर्पण करनेके लिये अपने प्रति निर्दय बनकर काम करने हीका नाम रचनात्मक कार्यक्रम है। रचनात्मक कार्यकी वीरता बाहरसे नहीं दीखती, किन्तु अुससे अुसका महत्त्व कम नहीं हो जाता। जिसे स्वराज्यकी आवश्यकता हो, अुसे सदा अपना खून देनेकी तैयारी रखनी चाहिये; और जबतक वैसा मौका नहीं मिलता, रचनात्मक कार्यमें अपना पसीना बहाते रहना चाहिये, और साथ ही यह निश्चय कर लेना चाहिये कि मैं न तो किसीका खून बहानेका पाप करूँगा और न किसीसे अुसका पसीना बहा कर अनुचित लाभ ही अुठाऊँगा।

८

अशियाकी साधना

दक्षिणमें ब्राह्मण-अब्राह्मणका भगड़ा कितने ही वर्षोंसे चल रहा है। ब्राह्मणोंको तो हम जानते ही हैं। परन्तु अब्राह्मण-वर्ग कहाँसे उत्पन्न हो गया? अब्राह्मण नामकी कोथी अेक जाति तो है नहीं, फिर भी एक अब्राह्मण-पक्ष खड़ा हो गया है। ब्राह्मण और अब्राह्मणके प्रश्न में ज़रा भी पड़े बिना हम कह सकते हैं कि ब्राह्मणों में ब्राह्मणत्वका अभिमान और इस बातका भान ही कि हम दूसरोंसे जुड़े हैं, अब्राह्मण-वर्गके खड़े होनेका एक कारण है। ब्राह्मणोंमें यह जातिका अभिमान तीव्र होनेके कारण दूसरोंमें विरुद्ध भावना पैदा हुआ है।

आजकी हमारी अशिया-विषयक भावना भी ऐसी ही है।

जबसे यूरोपके लोग भौतिक शास्त्रों और आसुरी राजनीतिमें निपुण हुए, तबसे उन्होंने अपने अन्दर परस्पर मत्सर और बैरके होते हुअे भी आम तौरपर अपनी एकताको अच्छी तरह कायम रक्खा है, और यूरोपके बाहरी देशोंपर धावा बोल दिया है। जो लोग इस आक्रमणका शिकार हुअे हैं उनमें अपने अन्दर अक्य कर लेनेकी भावना आगे-पीछे अवश्य हो जायगी; और यही कारण है जो हमारे अन्दर अशियाकी अकताकी कल्पना फैलने लगी है। अशियाकी अकताकी कल्पनाके मूलमें यदि यही अक कल्पना हो, तो भी वह अकता सकारण तो मानी जा सकती है, परन्तु होगी वह कृत्रिम ही।

परन्तु अशियाकी अकता युरोपियोंके उत्कर्ष जितनी आधुनिक नहीं; वह तो बहुत ही पुरानी और गहरी है। चीन और जापान, रूस और मध्यअशिया, तुर्किस्तान, अरबस्तान, ईरान और हमारा हिन्दुस्तान—ये सभी देश प्राचीन कालसे परस्पर अकताके सूत्र में बँधे हुअे हैं। पर उस वक्त यूरोप जुदा नहीं था। यूरेशिया (यूरोप + अशिया) अक अखण्ड भूखण्ड था और, यद्यपि आज वह उतना अखण्ड न रह गया हो तो भी, अन्तमें वह अखण्ड ही होने वाला है।

कुछ लोगोंके मनमें यह विचार आता है कि अभी हमें स्वराज्य नहीं मिला, हमारी म्युनिसिपैलिटियां भी हमारे हाथ में नहीं हैं। घरके अन्त्यजोंको हम अपने समाजमें सम्मिलित नहीं कर सके हैं—अैसी स्थितिमें सारे अशियाके लिये कहाँ विचार करते फिरे ? परन्तु यह आक्षेप ठीक नहीं है। संसारकी आजकी स्थितिका विचार करके भविष्यका विचार करते समय यदि समस्त संसारके साथ हमारे सम्बन्ध ध्यानमें लेकर विचार किया जाय तभी हमें अपना मार्ग साफ दिखाई दे सकता है। फिर हम बाहरी संसारसे चाहे कितने ही अलग रहना चाहते

हों, तो भी संसार कहाँ ऐसा है जो हमें अलग रहने दे ? और हमारा सम्बन्ध भी ऐसी सल्तनतके साथ जुड़ा है जो बिल्लीकी तरह एक-एक घर के दूध और घी चख आती है। इसलिये इस बातका भी विचार कर लेना जरूरी है कि आज पड़ोसी देशों-के साथ हमारा सम्बन्ध किस तरहका है और यदि हमारी परिस्थिति हमारे कब्जेमें आ जाय तो हम उनके साथ कैसा सम्बन्ध रखेंगे ?

बहुतेरोंका कहना है कि युरोपीय और हिन्दुस्तानी दोनोंके हित अकेल-दूसरेके विरोधी होनेके कारण दोनों जातियाँ चाहे जितनी लड़ें, परन्तु दोनोंका जीवनके आदर्शके विषयमें ख़ास तरहका अकेल मत है। पर दोनोंके राजनैतिक आदर्श और सामाजिक कल्पनाओंमें, व्यापक दृष्टिसे देखा जाय तो, अशियाके अन्य देशोंकी अपेक्षा साम्य और आकर्षण अधिक है। चीनी और भारतीय लोगोंमें जितनी सामाजिक अकेलता है, उससे कहीं अधिक युरोपीय और भारतीय लोगोंमें है। हिन्दू-धर्म और अिसाअी-धर्म अिन दोनोंमें जितनी समानता है, अतना हिन्दू-धर्म और अिस्लाममें नहीं। राष्ट्रीय अथवा सामाजिक आकर्षण देखते हुअे, हम अशियाके और देशोंकी अपेक्षा यूरोपके अधिक निकट हैं। अिसलिये हमें यूरोपके साथ लड़ भगड़ कर भी अपना सम्बन्ध बढ़ाना चाहिये। अशियाअी अकेलता भौगोलिक अथवा प्रादेशिक अकेलता है, परन्तु यूरोपके साथ हमारी अकेलता उच्च दृष्टिसे देखनेपर सांस्कृतिक अथवा जातीय है। जैसे अकेल लकड़ीके दो सिरे परस्पर-विरुद्ध दिशाओंमें होते हुअे भी जिस तरह लकड़ी तो अकेल ही है, उसी तरह युरोपीय और भारतीय आदर्श, परस्पर-विरोधी होनेपर भी, अकेल ही आर्य-आदर्शकी शाखाओं हैं।

यह दलील निःसार नहीं है यूरोपकी वर्तमान संस्कृति

आसुरी है (राक्षसी नहीं) और हिन्दुस्तानकी संस्कृतिका आधार-भूत आदर्श देवी है—यदि यही मान लिया जाय, तो भी देव और असुर दोनों भात्री-भात्री हैं, यह बात हमारे पुराणकर्ताओंने ही स्वीकार की है।

यूरपके साथ हमारा परिचय मजबूरीकी हालतमें बढ़ा, अिसलिये हम यूरपके साथ थोड़े-बहुत अंशोंमें परिचित हुआ। अिसी तरह अिस्लामके साथ भी हमारा परिचय अनिच्छापर्वक ही हुआ, और हम अिस्लाम की कद्र करना सीखे। अब अीश्वर का सवाल है कि क्या संसारकी अेकताका अनुभव करनेके लिये चीनी संस्कृतिके साथ स्वेच्छापर्वक परिचय प्राप्त करना है, या वह भी मैं जबरदस्ती करा दूँ? यदि अपने-आप परिचय बढ़ा-ओगे तो स्वतन्त्र रहोगे; जबरन बढ़वाना चाहोगे तो असका मूल्य चुकाना पड़ेगा।

यदि अशिया, यूरपके सर्वभक्षी धनलोभ और सत्तालोभसे डरकर यूरपका सामना करनेके लिये अेक हो जायँ, तो वह आसुरी संघ होगा; क्योंकि वह संघ यूरपकी तरह ही स्वार्थमूलक होगा, जिसमें क्षण-क्षणमें संधि और विग्रहके रंग बदलते रहेंगे और अन्तमें सारा यूरप अेक तरफ़ और सारा अशिया दूसरी तरफ़ होकर अेक अैसा महायुद्ध या अतियुद्ध चेतगा कि जिसके अन्तमें मनुष्य-जाति और मानवी संस्कृतिका लगभग संहार हो जायगा और हज़ारों वर्षोंका मानव-पुरुषार्थ मटियामेट हो जायगा। सर्वोदयका आदर्श अपने सामने रखनेवाले लोग भला अैसा क्यों होने देंगे?

यूरपका विरोध करें या न करें, मनुष्यजातिकी अेकताको हट् करनेके लिये, दया-धर्म या शान्तिका साम्राज्य स्थापित करनेके लिये, अशियाको अेक होजाना चाहिये।

और अशिया अेक होना चाहता भी है। हमारा खिलाफ़तका

आन्दोलन अेक तरहसे अेशियाअी अेकताकी नींव थी । अिस्लाम के साथका हमार सम्वन्ध पुराना है । खिलाफत की तहरीकमें हिस्सा लेकर हमने असे पूर्ण करनेका प्रयत्न किया ।

हम लोगोंने अेशियाकी अेकताका प्रारम्भ खिलाफतसे किया है । किन्तु यह अेकताकी कल्पना कुछ आजकी नहीं है । दिग्विजयी आर्य राजाओंने चीनसे मिस्रतक और अुतर ध्रुवसे कुछ नहीं तो लंका और बालीद्वीप तक सांस्कृतिक अेकता स्थापित करनेके प्रयत्न किये हैं । और अिस अेकतामें आर्य लोगोंने अपने पड़ोसियोंको जितना दिया है, अुतना अुनके पाससे निःसंकोच लिया भी है; अलबत्ते लिया है अपनी उच्च अभिरुचिके अनुसार पसन्दगी करके । मैं मानता हूँ कि धर्मराजका राजप्रासाद बनाने-वाला मयासुर चीनदेशीय था और अुसकी स्थापत्यकला बृहस्पति तथा शुक्राचार्य दोनोंकी कलासे भिन्न थी । यह भी माना जाता है कि चीन देशकी चित्रकारी और नृत्यकलाका प्रभाव भारतीय कलाओंपर हुआ होगा ।

अितिहासकारोंकी रायके अनुसार अेक समय अेशियाकी कला-कुशलताका केन्द्र समरकन्द और खोतानके आसपासके देशमें था । वहाँसे व्यापारके अनेक मार्ग भिन्न-भिन्न दिशाओंमें जाते थे । अेक रास्ता चीनकी ओर जाता था, अेक हिन्दुस्तानकी ओर आता था, अेक मिस्र देशमें जाता था, और अेक यूरोपमें । अिस तरह वाणिज्य-व्यापारके साथ संस्कृतिका भी विनिमय अिस मध्यभूमिमें होता था । जनार्दनकी अिच्छा हुआ कि थोड़े दिनोंके लिये ये सारे अेक-दूसरेसे अलग होकर कुछ-कुछ भिन्नता की शिक्षा प्राप्त करें । वस, तुरन्त ही बालूके समुद्र अुछलने लगे और अुन्होंने अमू दरिया और सर दरियाके देशको अुजाड़ कर दिया । आज भी, जब भारी आँधी आती है, और बालूके परत अुड़ जाते हैं, इस प्राचीन संस्कृतिके अवशेष वहाँ मिलने लगते हैं ।

आर्य लोग पहलेसे ही यात्रा-प्रवीण थे। पहाड़ देखते ही उन्हें असे पार करनेकी अिच्छा हुअे बिना नहीं रहती। नदीको देखकर तो अ्सके अुद्गम-स्थानकी खोज लगाये बिना नहीं रहते। आर्योंका देवता अिन्द्र अुज्युको समुद्रके पार ले गया था। आर्य राजा हरेक राजसूय-यज्ञमें चीन और मिस्रके राजाओंको आमन्त्रित करते थे। अशोक राजाने चारों दिशाओंमें बौद्ध-धर्मका प्रचार करने तथा अभयका सन्देश सुनाने के लिये आर्यों और अर्हतोंको भेजा था और अस दिव्य सन्देशको सुननेके बाद दया-मय धर्मराज भगवान् बुद्धके देशकी यात्रा करनेको दिग्दिगन्तके यात्री आने लगे थे।

अशियाकी अेकता साधनेकी सम्पूर्ण शक्ति धारण करनेवाला तत्त्व तो महायान बौद्ध-धर्म ही था। महायान बौद्ध-धर्ममें भगवान् बुद्धका अुपदेश, तन्त्रमार्गकी लोकप्रिय विधियाँ और अनेक देवी देवताओंके वृन्द तो थे ही, पर अिसके अुपरान्त दुःखः-सन्तप्त मनुष्यको दिलासा देनेवाले और परोपकारी वीर पुरुषोंको आकर्षित करनेवाले बोधिसत्त्वका आदर्श भी था। जब महायान-पन्थका प्रसार हुआ, तब हिन्दुस्तानका चीन देशके साथ अीरान, बेक्ट्रिया आदि पश्चिम-अशियाके साथ और स्वर्णद्वीप (ब्रह्मदेशके) साथ, सम्बन्ध घरके आँगनके समान हो गया था। अिसके बाद धर्म-साम्राज्यकी कल्पना अरबस्तानमें पहुँची और अुसने तीन खण्डों में अेकेश्वरवाद (वहदत) और ममताका सन्देश पहुँचाया। अब भी यह धर्म मध्यअशिया और अफ्रिकामें नये-नये लोगोंको अल्लाताला और अुसके नबी साहबके चरणोंमें लानेका काम करता है। जब मुसलमान धर्मका अुदय हुआ तब हिन्दुस्तानके धर्म-धुरन्धर ब्राह्मण और श्रमण तिब्बत और चीनमें जा बसे थे। हिमालय और हिन्दूकुशके अुसपार अनेक मठोंमें हिन्दुस्तानके प्राचीन संस्कृतिके साक्षी-रूप साहित्य, स्थापत्य और कलाके

नमूने मौजूद हैं। हिन्दुओंकी परमपवित्र यात्रा कैलाश और मानसरोवर की है। जिसके द्वारा हिन्दू और चीनी संस्कृतिका लेन-देन अखण्ड रूपसे होता रहता था। आज भी वह कुछ अंशों में चल ही रहा है। जहाँ-जहाँ हिमालय पार करके अन्तरकी ओर जानेके रास्ते हैं वहाँ-वहाँ आर्य-संस्कृतिके थाने—तीर्थस्थान खड़े हैं।

हिन्दुस्तानका शिष्य-समूह जितना हम जानते हैं उससे कहीं बड़ा है। चीनी और जापानी लोग हिन्दुस्तानको आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। तिब्बत-यात्राके मार्ग फिरसे खुलने लगे हैं। हिन्दुस्तान का अहिंसाका मार्ग सारे संसारमें विख्यात हो गया है। यूरोप और अशियाके बीचके युद्धमें यदि हम अहिंसा-धर्मको प्रधान पद देंगे तो चीन देशमें उसका प्रभाव जापानके अर्ध पर पड़ेगा, और उस तरह केवल अशियाकी ही नहीं, बल्कि सारे संसारकी अकेला करनेके लिये आवश्यक वायुमंडल तैयार हो जायगा।

अशियाको अवश्य अकेला हो जाना चाहिये; किन्तु किस-लिये ? स्वार्थके लिये नहीं; यूरोपसे युद्ध करके उसको पादाक्रान्त करनेके लिये नहीं; बल्कि यूरोपमें जो स्वार्थ-परायण साम्राज्य-वादकी वाद आ गयी है उसका नाश करनेके लिये और धर्मका साम्राज्य स्थापित करनेके लिये।

६

वीर-धर्म

हिन्दुस्तानके सभी प्रश्नोंमें दरिद्रताका प्रश्न सबसे बड़ा है। जिस जनताको दो बार पेट-भर खानेको भी न मिलता हो, उसका चित्त किसी दूसरे प्रश्नकी ओर कैसे जा सकता है ? जिस फाँकेकशी को दूर करनेपर ही जनताको कुछ सुख पड़ेगा और अपने जीवन

में सुधार करने योग्य उत्साह अस्ममें आवेगा। सुबहसे शाम तक, एक चौमासेसे दूसरे चौमासे तक, और जन्मसे मरण तक, यही एक प्रश्न गरीब भारतके सम्मुख हमेशा खड़ा रहता है कि जिस फाकेकशी को कैसे दूर किया जाय ?

देहातमें कई स्थानोंपर मनुष्य कितना ही बीमार हो जाय तो भी वह अके दिन भी दवा नहीं ले सकता, और न विश्रान्ति ही ले सकता है। क्योंकि, यदि वह विश्रान्ति लेने जाय तो खाये ही क्या ? यदि डाक्टरको तीन आने देने हों तो एक दिनकी अपनी खूराक काटकर ही वह दे सकता है। गरीबीके कारण मनुष्यका तेजोवध भी होता है। वह अन्यायको अपनी आंखों देखता तो है, किन्तु उसका प्रतिकार नहीं कर सकता। वह देखता है कि मैं ठगा जा रहा हूं, किन्तु फिर भी वह अस् ठगाअसीसे बच नहीं सकता, गरीबीके कारण अस्से स्वाभाविक दया, माया और ममता भी छोड़ देने पड़ती है। पुत्र-स्नेहवत् पाले हुए बेटों और भैंसोंसे अस्के बूतेके बाहर अस्से काम लेना पड़ता है। निर्दय बनकर अस्न्हें मारना-पीटना भी पड़ता है।

और सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह कि गरीब देहातीको असीलिये अक्सर ज्यादा खर्च करना पड़ता है कि वह गरीब है। असीलिये अस्से अधिक सूद लिया जाता है क्योंकि वह गरीब होता है। अस्से रिश्वत देने पर ही नई-नई सुविधाओंका लाभ मिल सकता है। थोड़े में यों कहना चाहिये कि गरीब होता है, असीलिए अस्से और भी अधिक गरीब बनाना पड़ता है। अस्का अुपाय क्या है ? कानूनके द्वारा अस्की रक्षा नहीं हो सकती। शाहजादेसे लेकर बड़े-बड़े अधिकारियों तकके जो बड़े-बड़े दौरे होते हैं, उनसे भी गरीबोंकी हालत नहीं सुधर सकती। अलटे अस्से प्रसंगोंपर तो गरीब बेगार करते-करते अधमरे हो जाते हैं। अदालतें तो गरीबोंको चूसने ही का काम करती हैं। पुलिस-कर्म-

चारी गरीबोंको यमराजके समान मालूम देते हैं। वकील, सूद पर रूपये देने वाले साहूकार, नकल-नवीस, अर्जी नवीस, पटेल पटवारी, वार्षिक अगुाही करनेवाले गुरु, पुरोहित, ज्योतिषि, साधु-संन्यासी, फकीर, सभी गरीब किसानोंपर अपना निर्वाह करते हैं। गरीब किसान सारी दुनियाको खिलाता है, परन्तु अरुस बेचारेको खिलानेवाला कोअरी नहीं मिलता। अरुसकी किस्मतमें तो वही फाकेकशी है।

अरुसका अरुपाय क्या है? हम तो अरुसका अरुक ही अरुपाय बतला सकते हैं, और वह है स्वावलम्बन। किन्तु जिस मनुष्य-पर सारा समाज अवलम्बित है, अरुसके सम्मुख स्वावलम्बनकी बात करते हुअे हमें लज्जा आनी चाहिये। अरुस बेचारेके अपने बाल-बच्चे होते हैं, माँ-बाप और भाअरी-वहन आदि होते हैं, और वह यह सब कुछ अरुसलिये सह लेता है कि अरुनकी दुर्दशा न होने पावे; वरना वह कभीका या तो वागी बन गया होता, या भभूत रमाकर बैरागी ही हो गया होता। अरुसके दुःखों को कौन दूर कर सकता है? हम जो-कुछ भी आन्दोलन करते हैं, वह सब शहरोंमें ही होता है। व्याख्यान शहरों हीमें होते हैं; शिक्षाके लिये खर्च शहरों हीमें होता है; समाचार-पत्र भी शहरों हीमें पढ़े जाते हैं; दवा-दरपनका सुविधाअें भी तो शहरों हीमें होती हैं; सुख और सुविधाके सभी साधन शहरों हीमें मिल सकते हैं। तब अरुन दहाता गरीबोंका आधार कौन है?

विचार करनेसे ज्ञात होगा कि गरीबकी औषधि गरीबी ही है। जिस देशमें करोड़ों मनुष्य फाकेकशी कर रहे हैं, अरुसमें अरुनकी वह फाकेकशी मिटानेके लिये हजारों और लाखों युवकों-को स्वेच्छापूर्वक धार्मिकतासे गरीबी धारण करनी चाहिये। अंग्रेजी शिक्षाके कारण अरुस विषयमें हम बहुत ही कायर बन गये हैं। आज तो मनुष्य मृत्युसे, धर्म-द्रोह और देश-द्रोहसे

अतना ही डरता है जितना कि वह गरीबीसे डरता है। जिस देशमें स्वेच्छापूर्वक धारणकी हुई गरीबीकी प्रतिष्ठा सर्वोपरि थी, आज असी देशमें हरेक शिक्षित युवक कायरकी तरह गरीबीसे भागता फिरता है। रूसमें अकाल फैला हुआ था। लोगोंका दुःख असह्य था। उसे देखकर साधु टॉल्स्टॉय घर-बार छोड़कर भिखमंगा बन गया। बाह्य दृष्टिसे देखनेमें उसका क्या लाभ हुआ ? गरीबोंकी संख्यामें और भी ओक आदमी बढ़ा दिया, वस यही न ? अर्थशास्त्री उसका उत्तर नहीं दे सकते, क्योंकि उनके शास्त्रमें आत्माके लिये स्थान ही नहीं। पर टॉल्स्टॉयने भिखारी बनकर संसारकी आत्माको जागृत किया, संसारके अंशोआराममें डूबे हुये हजारों मनुष्योंको फाँकेकशीका और उसके मूलभूत कारण अन्यायका प्रत्यक्ष दर्शन करा दिया।

शिक्षित लोग कहते हैं—‘आपकी बात सच है, किन्तु हमारे बाल-वर्च्चोंका क्या होगा ? जिस स्थितिमें रहनेकी आदत उनको पड़ गयी है, उसमें तो उन्हें रखना ही होगा ? क्या यह अचित है कि हमारे विचारोंके कारण वे कष्ट सहें ?’ मैं कहूँगा, ‘जरूर। उसमें कुछ भी अनुचित न होगा। यदि आपकी दृष्टिसे केवल आपकी स्त्री और बाल-वर्च्चे ही सत्य हों, और भूखों मरनेवाले ये करोड़ों भाथी केवल भ्रम—माया—हों, तब तो जुदा बात है। पर आप यह क्यों नहीं खयाल करते, कि क्या यह अचित है कि हमारी संकट आदतोंके कारण हजारों गरीबोंको भूखों मरना पड़े ?’ गरीबोंमें दिन काटने पड़ेंगे—अस डरसे हममें कितनी पामरता आ गयी है ! पद-पद पर हमारा जो तेजोवध हो रहा है उसका कारण यह गरीबीका डर ही है। अन्यायको सहते हैं, अपमानका कड़वा घँट पी जाते हैं, आँखें मूँदकर अन्याय करनेमें दूसरेके साथ सहयोग करते हैं, और रात-दिन आत्माका अपमान

करते हैं, जिसका कारण सिवाय जिस गरीबीके भयके और कुछ ही नहीं ।

कुछ लोग कहते हैं कि 'अतना स्वार्थत्याग तो कोश्री विरला महात्मा ही कर सकता है । सामान्य लोगोंके लिये यह आदर्श नहीं है । बाल-बच्चोंका विचार छोड़ देने से कैसे चलेगा ?'

युद्धमें जो हजारों और लाखों सैनिक देशके लिये लड़ने जाते हैं, वे सभी महात्मा नहीं होते । उनके भी बाल-बच्चे होते हैं । दस या पन्द्रह रुपये पानेवाला मनुष्य अपने बाल-बच्चोंके लिये क्या बचत कर सकता है ? स्त्रियों और लड़के-लड़कियोंको आश्रित दशामें रहनेकी हमने आदत डाल रखी है । अिसीसे हमें अज्ञात भविष्यमें गोता लगानेमें भय होता है । प्रतिदिन परिश्रम करके रोटियां पैदा करना और भविष्यकी ज़रा भी चिन्ता न करना, जिसमें जो वीर-रस है उसकी मधुरता अनुभवके बिना समझमें नहीं आ सकती । कुशलता, सुरक्षितता तो जीवनकी विध्वंसक है । भविष्यकी सन्दिग्धता—नित्य-नूतन युद्ध, यही तो जीवनका सार है जिसका स्वाद जिन्हें नहीं मिला, उन्हें तो अभागे ही समझिये । जिसका भविष्य सुरक्षित है, उसमें धार्मिकताका होना बहुत कठिन है । जो सुरक्षितताको चाहता है, वह वास्तवमें नास्तिक ही है । जैसे बालक माता-पिता पर विश्वास रखकर निश्चित रहता है, असी तरह वीर पुरुषको मांगल्यपर विश्वास रखना चाहिये । जहाँ सुरक्षितता है वहाँ न पुरुषार्थ होता है न धार्मिकता, न कला होती है और न काव्य ही होता है ।

जो मनुष्य स्वेच्छापूर्वक गरीबी धारण करता है, वह वीर बन जाता है । अन्यायी मनुष्यको वह कालके समान लगता है । पीड़ितोंको कृपानिधि जान पड़ता है । वह बड़ी-से-बड़ी सल्तनतका

सामना कर सकता है, और धर्मका रहस्य भी असीपर प्रकट होता है। गरीबी वीर मनुष्यकी खूराक है, ईश्वरका प्रसाद है और धर्मका आधार है। जब इस तरहके गरीब देश में बढ़ेंगे तभी देशकी गरीबी दूर होगी, फाँकेकशी मिटेगी, लोगोंमें हिम्मत आयगी और आज जो बात असम्भव मालूम होती है वही आगे सम्भव और सुलभ हो जायगी।

१०

गरीबोंकी दुनिया

मानव-जातिके इतिहासके मानी हैं भिन्न-भिन्न मानव-जातियोंके सम्मुख भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर अस्थित हुआ अनेकों प्रश्नोंकी अलभनों और अनुको सुलभानेके लिये किये हुआ मानव-प्रयासोंका वर्णन। जिस दृष्टिसे आज यूरपके इतिहासका अवलोकन हमारे लिये बहुत बोध-प्रद है। क्योंकि यूरपने पिछली शताब्दीमें अपने पुरुषार्थसे सारे संसारपर भला या बुरा असर डाला है।

अन्धकारके युगमेंसे अवर जानेके बादके यूरपके इतिहासमें हम प्रायः भिन्न-भिन्न राजवंशोंके अभिमान, महत्त्वाकांक्षा और षड्यंत्र ही देखते हैं, मानो इतिहासमें सामान्य प्रजाका अस्तित्व ही नहीं था।

जैसे महाभारत में अठारह अक्षौहिणी सेनाके युद्धमें गिने जाने और कट जानेके सिवा और कोई अर्थ ही नहीं, अथवा जिस तरह चित्रके पीछे उसे धारण करनेके लिये ही पट होता है, ठीक वैसी ही दशा यूरपमें सर्वसाधारण जनताकी थी, यों कहा जाय तो अयथार्थ न होगा। रूस, प्रशिया और आस्ट्रिया अति तीनों

राज्योंने यूरोप की एक महान् प्रजाके प्रति घोर अन्याय करके प्रजाओंको ऐतिहासिक महत्त्व दिया। जिस दिन पोलैण्डके टुकड़े-टुकड़े किये गये, उसी दिन यूरोपमें राष्ट्रीयताका जन्म हुआ। अटालियन देशभक्त जोसेफ मैजिनीने अपने तत्त्व-ज्ञानसे और कठोर तपश्चर्या से राष्ट्रोंको नाम, रूप और महत्त्व समर्पित किया और उसी दिनसे यूरोपके युद्ध और सुलहनाम अर्थान् सन्धि-विग्रहादि राजपरिवारोंके बजाय राष्ट्रोंके नामसे होते हैं।

वर्तमान समय औद्योगिक प्रगतिका युग होनेसे राजसत्ता किसी-न-किसी तरह व्यापारियोंके हाथोंमें चली जाती है। ये व्यापारी अपने स्वार्थके लिये भोली-भाली प्रजाओंमें राष्ट्रीय अभिमान, द्वेष और शीर्षा सुलगाकर उन्हें लड़ाते हैं और भयंकर संहार कराके उसका आर्थिक लाभ तो स्वयं हज़म कर जाते हैं, किन्तु उसका भार तथा आपत्तियाँ सिर्फ़ अगुन गरीब प्रजाओंको झुठानी पड़ती हैं।

जबतक यूरोपके शासन-सूत्र राजवंशोंके हाथोंमें थे, तबतक बाहरी दुनियाक साथ उसका अधिक सम्बन्ध नहीं आया था, परन्तु जिस दिनसे औद्योगिक युगका आरम्भ हुआ, उसी दिनसे यूरोपके भगड़े सारी दुनियाको बाधक होने लगे हैं।

जिस प्रकार अन्यान्य सभी खण्डोंकी प्रजा यूरोपके अगुन भगड़ोंके कारण अब गई है, उसी प्रकार वहाँका मजूर-दल भी अगुनके कारण अतना ही परेशान हो गया है। वह कहता है कि “यह मान लेना निरा भ्रम है कि आज यूरोप में पन्द्रह या अठारह राष्ट्र हैं। यूरोपमें तो केवल दो ही राष्ट्र हैं धनियोंका और दूसरा निर्धनोंका। धनवान राष्ट्र समर्थ और संगठित हैं, जबकि निर्धन राष्ट्र असहाय और छिन्न-भिन्न हैं। अिसीलिये तो धनिक निर्धनोंको अपना दास बनाकर अगुनका खून चूस सकते हैं। यदि निर्धनोंका वर्ग सुसंगठित हो जाय, अक्य-पर्वक

रहकर कोश्री योजना बनाकर असको पूरा कर सके, तो असके पास मनुष्य बल तो अतना है और जने-जीवन की एक-एक नस इस तरह सम्पूर्णताके साथ अनेके हाथोंमें है कि वह चाहे जिस क्षण अपनी मनमानी कर सकता है।' अिसी खयालसे वहां मजदूरशाही अथवा बोलशेविज्मका जन्म हुआ। यूरपमें अब धनी और निर्धनोंके बीच महान् विग्रह शुरू हो गया है। यह कहना कठिन है कि कब और किस तरह अिस विग्रहका अन्त होगा।

शंकराचार्यने जिस समय 'अर्थमनर्थ भावय नित्यं' कहा था अस समय शायद अनेके दिलमें अपने वचनका इतना व्यापक और भीषण अर्थ नहीं आया होगा। जबतक लोग अिस तरह धनके लिए लड़ते रहेंगे, तबतक इस मानवताको सुख और शान्ति कैसे नसीब हो सकती है ? 'अद्वैत' की तरह इस विग्रहमें भी 'द्वितीयाद्वै भयं भवति।' जबतक ये दो रहेंगे, युद्ध बराबर जारी रहेगा। सर्वनाश किये बिना यह विग्रह शान्त नहीं होगा।

पर श्रद्धा कहती है, 'नहीं, सर्वनाशके लिये अिस मानवताकी सृष्टि नहीं हुआ है।' भगवान् श्रीसाने कहा है कि यह दुनिया गरीबों के लिये है, पर गरीबोंसे मतलब अपूर बताये हुआ, निर्धनोंसे नहीं है। क्योंकि, वे तो दोनों—धनी और निर्धन भी—धनकी वासना से पूर्णतः व्याप्त हैं। अतः वे दोनों तो धनवान ही हुआ। जहां अेक धनके मदसे मत्त है, वहां दूसरा धन-लोभसे अन्धा हो रहा है। दोनों ही में धनकी विकृति है, अतः जिसमें धनकी विकृति है वह गरीब नहीं बल्कि धनवान ही कहा जायगा। पर यह दुनिया धनवानोंकी नहीं, गरीबोंकी है।

अिस दृष्टिसे देखा जाय तो समस्त यूरप धन परायण है। पूँजीपति भी परायण और बोलशेविक भी परायण। क्योंकि दोनों धनके लालची हैं, असके लिये पागल हो रहे हैं।

ये दोनों प्रकारके धनवान भले ही संसारमें मनमाने लड़ें,

क्रानूनके पंडित भले ही चाहे कितने ही प्रकारसे संपत्तिके विभाग करके देखलें, पर अस तरह संसारमें कदापि शान्तिका साम्राज्य नहीं होगा ।

यूरपमें थोड़ेसे लोगोंके हाथमें सारा धन है । निस्सन्देह यह स्थिति विषम है । परन्तु यदि निर्धन लोग भूखे भेड़ियेकी तरह हमेशा अस सम्पत्तिको लूटनेकी ताकमें रहेंगे तब तो वह विषमता और भी भयंकर हो जायगी । पर यह बात निर्धनोंके खयालमें नहीं आती । अनमें अितनी श्रद्धाका उदय होना जरूरी है कि धनिकोंको बिना लूटे भी अनकी और धनिकोंकी विषमता दूर हो सकती है ।

असके लिये निर्धनोंको कुछ करना चाहिये । अगर वे लोभका त्याग करके सन्तोषको अपनावें, और अपनी आवश्यकताओंको घटाकर अत्यन्त स्वाभाविक जरूरतोंको स्वावलम्बन द्वारा पूरी करना सीख लें तो वे देखेंगे कि न तो धनवानोंके पास अधिक धन जा रहा है, और न वहां एकत्र ही हो रहा है । बड़े पैमाने-पर वस्तुओंको पैदा करना और अन्हें देश-देशान्तरोंमें भेजना अथवा संक्षेपमें विराट् रूपसे श्रम विभाग करना ही इस विषमता का मूल कारण है । अस विषमताको दूर करने ही के लिये स्वदेशी धर्मका अवतार हुआ है । स्वदेशीके पालनसे कोअी भी मनुष्य धनिक न हो सकेगा, और न अससे किसी मनुष्यके निर्धन होने का ही डर है । यदि हम एक जगह अँचा टीला बनाते हैं, तो दूसरी जगह अवश्य ही गड्ढा बन जाता है । जहां सधनताका अभाव है, वहीं निर्धनता का भी अभाव हो सकता है । सम्पत्ति और दारिद्र्य दोनों सनातन पड़ौसी हैं । दोनोंका नाश अेक साथ ही हो सकता है—बोलशेविज्म द्वारा नहीं बल्कि स्वदेशी-धर्म द्वारा ।

परमात्माकी कृपा होगी तो अबसे आगे के जमानेके लोगोंमें दो वर्ग होंगे—अेक धन-परायण और दूसरा सन्तोष-परायण ।

अक होगा साम्राज्यवादी और दूसरा होगा स्वराज्यवादी । अक होगा सत्तावादी और दूसरा होगा सत्यवादी । अक आतंक जमाना चाहेगा, दूसरा दयाका शीतल स्रोत बहावेगा । अक अश्वर्य परायण होगा और दूसरा होगा स्वधर्म-परायण । अक अहंकारवादी और दूसरा संतोषी ।

११

प्रतिष्ठाकी अस्पृश्यता

हवा सर्वत्र चलती है, सभीको छूती है और संसारकी अकरूपता सिद्ध करती है । स्वर्गके देवता और कन्नके मुर्दे हवा-के बिना अपना काम चला सकते हैं । दोनों अस्पृश्य हैं । ईश्वर-की अिच्छा है कि पृथ्वी तो पृथ्वी ही बनी रहे । परन्तु कअीलोग अपने यकतरफ़ा विचारके प्रवाहमें बहकर अस भूलोकपर स्वर्ग और नरककी सृष्टि खड़ी करना चाहते हैं । मुरदा सड़ता है, मुरदेमें प्राण नहीं होता, मुरदा पृथ्वीके लिये भार-रूप है, इस लिये असे कोअी छूता भी नहीं, अितना ही नहीं बल्कि दफ़नाकर या आगसे जलाकर लोग असे नष्ट कर देते हैं । देवता हमें छूते नहीं । परन्तु वे अस भूलोकपर विचरते भी तो नहीं । जब अन्हें विचरना होता है, तब वे मानव-रूप धारण कर लेते हैं, वे मनुष्यों-के-से व्यवहार करते हैं, तभी वे मनुष्योंमें हिलते-मिलते हैं । जब वे (देवता) असा करनेसे अिन्कार करते हैं, तब अन्हें पत्थर बनकर मन्दिरोंकी कैद भुगतनी पड़ती है ।

हमारे समाज में अिसी तरहके दो अस्पृश्य-वर्ग देखनेमें आते हैं । अक अन्त्यजोंका और दूसरा अग्रजों (ब्राह्मणों) का । जिस प्रकार ढेड़—मेहतर अस्पृश्य हैं, अुसी प्रकार शंकराचार्य भी अस्पृश्य हैं । हम दोनोंकी श्रेणियोंमें बैठकर भोजन नहीं करते । हम दोनोंसे हाथ-भर दूर रहते हैं । दोनोंको वेदका अधिकार नहीं

और अिसलिये दोनोंको समाजमें स्थान भी नहीं है । समाजमें अूनकी स्थिति खतरनाक है । यदि अूनहें समाजमें शामिल करना हो तो पहले अूनकी अिस अस्पृश्यताको दूर करना जरूरी है । यदि अन्त्यजोंको समाजमें अस्पृश्यही बनाये रक्खेंगेतो सामाजिक दुर्गन्ध बढ़ेगी । असे दूर करनेके दो ही अुपाय हैं । या तो हिन्दू-समाजसे अूनको निकाल दिया जाय, या अूनहें स्पृश्य मान लिया जाय । ब्राह्मण-संस्कृतिके प्रतिनिधि शंकराचार्यको भी चाहिये कि वह मनुष्यकी तरह समाजमें विचरें, समाजकी स्थितिपर विचार करें और धर्मोपदेश द्वारा समाजकी सेवा करें । यदि वे अैसा न करते हों, तो अूनहें चाहिये कि वे लोगोंकी सेवा—पजामात्र ही स्वीकार करनेवाली मूक मूर्ति बन जायं । सुनते हैं कि नैपालमें राजाको अितना महत्त्व दिया गया है कि कोअी भी व्यावहारिक कार्य राजाके योग्य नहीं समझा जाता । प्रजा-पालन, शत्रु-दमन, मन्त्री तथा राज-कर्मचारियों पर देख-रेख, बनाना, किसीको दण्ड देना, या क्षमा प्रदान करना अित्यादि कामोंमेंसे अेकभी काम यदि राजा स्वयं कर डालेतो असकी प्रतिष्ठाकी महान् हानि होती है । काम-काज प्रधान मन्त्री करता है, राजा केवल 'होताहै' । यह तो प्रजाही जाने कि अैसे अस्पृश्य राजाका असे क्या अुपयोग होता होगा । नेपालके राजाका सम्मान चाहे कितना ही हो, समाज के हिसाबसे तो वह अेक अहेतुक निरुपयोगी प्राणी है—क्योंकि वह अस्पृश्य है । वेद-विद्याको भी हमने अिसी तरह बना रक्खा है । वेद अितने पवित्र हैं कि अूनका अर्थ तक नहीं किया जा सकता ! संस्कृत-भाषाकी भी यही दशा हुआ है । संस्कृत तो ठहरी देवताओंकी वाणी, मनुष्य असका व्यवहार कैसे कर सकते हैं ? फलतः असे जड़, निर्जीव, वीतप्राण ही हो जाना पड़ा । अिस प्रतिष्ठाकी अस्पृश्यतासे देववाणीको और भूदेवोंके समुदायको कौन अूबारेगा ? जब शरीरके पैर और सिर भी समाज-

सेवाके लिये अयोग्य हो जायं, तब मनुष्यको पेटके बल चलना पड़े तो क्या आश्चर्य ?^१

समाजको पंगु न बनाना हो तो शंकराचार्योंको और नैपाल-नरेश जैसे राजाओंको अपनी अस्पृश्यताको त्याग कर समाजमें सम्मिलित होना चाहिये और अन्त्यजोंकी अस्पृश्यताको दूर कर अन्हें भी शामिल कर लेना चाहिये । औसा करनेसे ही धार्मिक अन्धकार नष्ट होगा और हिन्दू-धर्मके सिरका काला धब्बा मिटेगा । केवल दिन-दिहाड़े मशालें जलाकर चलनेसे क्या होना-जाना है ?

१२

अन्त्यज-सेवा

जिसमें समभाव न हो वह सेवा नहीं कर सकता । सम-भावके मानी दया नहीं, परोपकार करनेकी वृत्ति नहीं, बुजुर्गी या शिष्टता नहीं समभावका अर्थ है प्रेमकी समानता, समभावका अर्थ है आदर; समभावका अर्थ है जाननेकी अिच्छा; सम-भावका अर्थ है भावना और आदर्शकी समानता ।

अन्त्यजोंकी या अन्य किसी भी जातिकी सेवा तो समभाव ही से होनी चाहिये । अहङ्कारी मनुष्य तिरस्कारसे भी सेवा कर सकता है, अज्ञानी मनुष्य अज्ञानतासे भी सेवा कर सकता है; परन्तु वह सच्ची सेवा नहीं । एक कहानी है कि एक स्त्रीने देखा कि असुके सोये हुआ पतिके गालपर एक मक्खी बैठी है; असुने सेवा-भावसे असु मक्खीको अितने जोरसे एक चांटा लगाया कि पतिके गालसे खून निकलने लगा ।

^१ पेटके बल चलना—मशहूर जलियांवाले बागके हत्या-कांडकी ओर संकेत है । —संपादक

हमारा गृह-जीवन, हमारा धर्म, हमारा साहित्य अत्रिन सभीके विषयमें अपने दिलमें असीम तिरस्कार धारण करते हुआ और उसे प्रकट करते हुआ भी कितने ही गोरे हमारी सेवा करते हैं। हम सभी मानते हैं और हमें अनुभव भी है कि अत्रिनकी यह सेवा हमें कितनी प्यारी और हितकारिणी है। जो लोग परदेशसे आकर अपने बड़प्पनका सिक्का जमाना चाहते हैं अत्रिनकी सेवासे हमें अर्थिक या बौद्धिक लाभ भले ही होता हो, किन्तु अससे हमारी आत्माका-हनन ही होता है। जो हममें मिल कर रहते हैं, हमें समझनेकी कोशिश करते हैं, हमारे ढङ्गसे काम करते हैं, वे ही हमारे गुण-दोषको समझ सकते हैं। हमारे गुणोंसे वे प्रसन्न होते हैं और अत्रिनहें विकसित करनेके लिये सहायता करते हैं। हमारे दोषोंसे वे लज्जित होते हैं और अत्रिनहें दूर करनेके हमारे प्रयत्नोंमें प्रेम और समभावसे सम्मिलित होते हैं। वे हमारे सेवक बने रहना चाहते हैं, अत्रिनको बड़प्पन देनेपर भी वे उसे ग्रहण नहीं करते।

जो अभिमानी होते हैं, अज्ञानी और लापवाह होते हैं, वे अच्छे-बुरेकी अपनी कसौटी साथ-साथ लिये घूमते हैं। जो अत्रिनहे अच्छा न लगता हो उसे हमें छोड़ देना चाहिये फिर चाहे वह हमें कितना ही प्रिय और अनुकूल हो। अत्रिनी प्रकार जिसे वे प्रिय समझें वह हमें कितना ही अनुचित लगता हो तो भी हमें उसे धारण करना चाहिये। चिकनी मिट्टीके घोड़ेको तोड़कर हमें यदि अत्रिनका साँप या गणपति बनाना है तो पुरानी आकृति को तोड़कर हमें उसे बिलकुल नया आकार देना पड़ता है। अत्रिनी प्रकार वे हमारे समाजको भी समझते हैं। किन्तु समाज कुछ चिकनी मिट्टी तो है नहीं, और यदि हो भी तो विदेशियोंके लिये कदापि नहीं।

जो नियम हमारे लिये हैं वे ही अन्त्यजोंके लिये भी हैं।

आराम-कुरसी पर बैठकर हम निश्चित करते हैं कि, अन्त्यजोंके लड़कोंको जिस तरहकी पोशाक पहननी चाहिये, अन्हें अितने विषय जानने चाहिये। अितने अुद्योग सीखने चाहिये; और अमुक-अमुक विचारोंको छोड़ देना चाहिये, अथवा धारण कर लेना चाहिये। अन्त्यजोंके लड़कोंको लेकर चिकनी मिट्टीके समान अन्हें अपनी कल्पनाके अनुमार हम बना लेना चाहते हैं।

‘अन्त्यजोंका और हमारा धर्म अेक ही है। हम दोनों अेक ही समाजके अंग हैं। हम अनादि कालसे अन्त्यजोंके प्रत्यक्ष गुरु नहीं तो अूनके अगुआ तो जरूर ही हैं। वे हमारे आश्रित, हम अूनके अभिभावक, यह सम्बन्ध चला आता है, और इसी लिये अन्त्यजोंके अुद्धारका मार्ग निश्चित करनेका अधिकार और योग्यता भी हम रखते हैं।’ जिस तरहका यदि कोअी दावा करे तो वह अयोग्य होगा, सो नहीं। परन्तु बहुतेरे अधीर बनकर अन्त्यजोंका अद्धार करते-करते अपने समाजसे भी अलग हो गये हैं। हमने अपने धर्म-विचार निश्चित नहीं किये। हमने अभी यह भी निर्णय नहीं कर लिया कि सामाजिक जीवनमें कौन-सी व्यवस्था अच्छी है। जितना पुराना है असे सरलतासे तोड़नेमें लगे हैं, परन्तु हमने अभीतक असका विचार नहीं किया कि असकी जगहपर नया क्या अपस्थित किया जाय, अथवा क्या अपस्थित किया जा सकता है। और अन्त्यजोंके सुख दुःख में अूनके सहयोगी बनकर अूनकी जीवन-यात्राको आसान बनानेकी बात तो हमें अभीतक सूझी भी न थी। फिर हम किस तरह अूनके भाग्य-विधाता बनेंगे ?

अिसका यह अर्थ नहीं कि, हम अूनकी सेवा नहीं कर सकते पर सेवा करनेके पहले हमें अूनके हृदय और अूनकी स्थितिको अच्छी तरह जान लेना जरूरी है। अूनकी शक्ति और अशक्तिकी परीक्षा करनी चाहिये। अूनकी धारणाओंके आधारभूत कारणोंको

खोजना चाहिये । अनुकी धारणाओं और रिवाजोंको जड़में महत्त्व-पूर्ण कारण होते हैं । हमें इसका पता लगाना चाहिये कि वे कारण कौनसे हैं । जिन्होंने अन्त्यजोंमें थोड़ा-बहुत काम किया है, अनुका अनुभव प्राप्त करके अत्यन्त नम्रता और सम-भावसे अन्त्यजोंकी सेवाको श्रीगणेश करना चाहिये ।

अन्त्यजोंकी अस्पृश्यता दूर करते ही अनुके कितने ही दोष तो अपने-आप ही दूर हो जायेंगे । स्पृश्य समाजमें मेल-मिलाप बढ़ते ही अनायास उन्हें कितने ही संस्कार मिलने लग जावेंगे । अनुका उत्तरदायित्व बढ़ जायेगा, जिसको पूरा करनेके लिये हमें उन्हें समभावपूर्वक सहायता करनी चाहिये ।

और खामकर यह ध्यानमें रखना चाहिये कि, जहाँ-जहाँ अन्त्यज स्पृश्य समाजमें सम्मिलित हों वहाँ-वहाँ अन्त्यजोंके स्वभावमें अतिनी नम्रता और मधुरता तो जरूर बनी रहे कि सभी लोग अनुका प्रेमपूर्वक स्वागत करने लग जायें । अन्त्यज-सेवकोंको इसकी खूब चिंता रखनी चाहिये । अन्त्यजोंकी जातिके प्रति जो रूढ़ तिरस्कार है उसके स्थानपर यदि पढ़े-लिखे अन्त्यजोंकी अद्भुतताके कारण समाजमें नया तिरस्कार उत्पन्न हो जायगा तो उसे दूर करना कठिन होगा । कश्मीरियोंके मनमें अस्पृश्य भावनाका अंश मात्र भी नहीं होता; गन्दे, शराब पीनेवाले मेहतरोंके साथ भी वे बन्धु-प्रेमसे बातें कर सकते हैं किन्तु ऐसे लोगोंके लिये भी कश्मीर बार कितने हो पढ़े-लिखे और अद्भुत अन्त्यजोंकी भाषा और अनुकी अपेक्षाओं आशायें बरदाश्त करना कठिन हो जाता है । यह दोष है उस शिक्षाका जो हमने उन्हें दी है । हम अन्त्यजोंको स्पृश्य समाजमें स्थान देना चाहते हैं, वह अनुका हक भी है । छूत पाप है, अन्याय भी है, परन्तु उस अन्यायको दूर करनेके लिये स्पृश्य समाजका अपमान कर अनुके साथ तुच्छताका बताव करके अन्त्यज अपना कल्याण

नहीं कर सकते। अभीतक जिस नम्रताको भय या अज्ञानके कारण किया था, उसीको अब उन्हें ज्ञानपूर्वक और स्वाभिमान पूर्वक धारण करना चाहिये। वहम और भय का त्याग करना चाहिये, नम्रताका नहीं। जिस प्रकार वकील-मुअकलका पक्ष लेकर उसे लड़ाते हैं; उसी प्रकार यदि हम अन्त्यजोंका पक्ष लेकर उन्हें स्पृश्यवर्गके साथ लड़ा देंगे तो उससे कुछ दिन तक हम अन्त्यज में भले ही लोक-प्रिय हो जायँगे, और स्पृश्य समाज भी हमसे डरने लग जायगा, किन्तु यह समाज-सेवकका पवित्र कार्य कदापि न कहा जायगा।

मनुष्यके लिये यदि अत्यन्त पवित्र और अत्यन्त सूक्ष्म केशी वस्तु हो तो वह है मनुष्य-समाज। उस समाजकी व्यवस्थामें हम जब कभी हाथ डालेंगे तब हमें वह अत्यन्त श्रद्धा, आदर-भक्ति और नम्रतापूर्वक करना चाहिये। नहीं तो समाज-द्रोहका पाप हमारे सिरपर आ बैठेगा। समाज-द्रोह प्रत्यक्ष श्रीश्वरका ही द्रोह है। यदि अिसमें भेद भी हो तो श्रीश्वरकी दृष्टिसे प्रभु-द्रोहकी अपेक्षा समाज द्रोह ही अधिक खराब है। प्रभु-द्रोहपर क्षमा हो सकती है—सदा होती है। परन्तु समाज-द्रोह—बन्धु-द्रोहका प्रायश्चित्त जमानों तक—शताब्दियों तक करना पड़ता है।

१३

मजदूरोंका धर्म

कहा जा सकता है कि अभीतक हिन्दुस्तानमें अधिकांश मजदूरोंका वर्ग ही नहीं था। देशका बड़ा हिस्सा किसानों ही का था। आज भी किसानोंका प्रश्न ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार यूरोप में मजदूरोंकी समस्या प्रधान है उसी प्रकार हमारे यहाँ किसानोंकी समस्या है। यदि किसी दलपर

सबसे अधिक सामाजिक दबाव है तो वह किसानों ही पर। गुजरातके किसानोंकी स्थितिसे बङ्गाल, महाराष्ट्र या संयुक्तप्रान्त-के किसानोंकी स्थिति ज्यादा खराब मालूम होती है। आज मिलोंके कारण जो मजदूर वर्ग उत्पन्न हुआ है वह अधिकांशमें किसानोंके वर्गमेंसे ही उत्पन्न हुआ है। जब किसानोंको खेतीसे संफलता नहीं मिलती और उसको देहातकी दरिद्र स्थिति असह्य हो जाती है तभी वह मजदूर बन जाता है। अर्थात् अकेले तरहसे मजदूर-वर्ग खेतीकी निष्फलताकी निशानी है।

X

X

X

मनुष्यकी मुख्य आवश्यकताओं दो हैं—अन्न और वस्त्र। जिसमें यह पुराना रिवाज था कि किसान अन्न उत्पन्न करे और हरअके मनुष्य उसे पकाकर खाए तथा हरअके मनुष्य अपने-अपने घरमें सूत काते और जुलाहा उसे बुनदे। सूत कातना और अन्न राँधना, यह हरअके कुटुम्बका नित्य कर्म था। खेती और वस्त्र-व्यवसाय ये देशके दो सबसे बड़े अद्योग थे। अन्नके अलावा जो कुछ भी समाजका काम होता, उसे अन्य कारीगर करते थे। मजदूरोंका काम ही न पड़ता था। हरअके कुटुम्ब वह सब काम अपने हाथसे कर लेता था जो उससे बन सकता था। उससे भी अधिक काम आ पड़ता तो अपने पड़ोसीकी सहायता ले लिया करता था। अब भी हमारे समाजमें विवाह आदि अवसरोंपर दूसरेके यहां अके ही जातिके पुरुष और स्त्रियाँ अिकट्टी होती हैं और लड्डू या पापड़ बना लेती हैं। अके ओर काम होता जाता है, दूसरी ओर विनोद-वार्तालाप भी होता रहता है, या गीत गाये जाते हैं। जिस तरह हमारी व्यवस्थामें परिश्रम भी अके प्रकारका उत्सव बन जाता है।

X

X

X

किसानको कुदरतके साथ हिलने-मिलनेका आनन्द मिलता

ही है। हल या पटहा चलाते समय किसान लोग आनन्दसे लल-
कारें लगा-लगाकर गीत गाते हैं। जुलाहा भी ढोटेकी तालपर
अपने कण्ठकी तानें छेड़ता रहता है। कारीगरोंको कलाकी अुत्तम
वस्तु तैयार करने में निर्दोष आनन्द मिलता है। अितना ही नहीं,
वरन् खेतमें लुननेके समय, या घरमें छत या पलस्तर करते
समय, टिपाई करते हुए भी मजदूर लोग संगीतका आनन्द लेते
हैं। आज मजदूर-वर्गको मिलमें जिस तरहका काम करना पड़ता
है वैसा आत्मघातक काम पहलेके मजदूरोंको कभी न करना पड़ता
था। जिसको खुद परिश्रममें आनन्द नहीं मिलता अुसे आनन्द-
प्राप्तिके बाहरी साधन खोजने पड़ते हैं और अैसी मजदूरी करने
वालोंका समाज यदि संस्कारी न हो तो वह स्वभावतः चाहे
जहाँसे और चाहे जैसा आनन्द प्राप्त करनेको ललचेगा।

×

×

×

आमतौरपर मजदूरी या शरीरिक परिश्रम पवित्र-से-पवित्र
अुद्योग है। आरोग्य, दीर्घायुष्य और स्वतन्त्रता ये मजदूरीके
आशीर्वाद हैं। मजदूरका जीवन दूसरे सभी अुद्योगोंकी तुलना-
में अधिक निष्पाप होता है। यदि मजदूर सन्तोषी हो तो वह
आसानीसे अस्तेय और अपरिग्रह व्रतका पालन कर सकता है
और अुसीमें अहिंसा भी वर्तमान है।

मजदूरका पेशा जितना पवित्र है, अुतना ही सम्मानपूर्ण भी
है। हां, हरअेक मजदूरको अिस बातका विचार जरूर करना
चाहिये कि, वह किस कारण-वश और किन शर्तोंपर मजदूरी
कर रहा है। मजदूर जो काम करता है या जिस वस्तुको बना
रहा है वह समाजके लिये आवश्यक और धर्मको स्वीकार होनी
चाहिये। मजदूरको मजदूरी करते हुअे अपनी स्वतन्त्रताको खो
न बैठना चाहिये।

×

×

×

फीजी अथवा दक्षिण अफ्रीकाके मजदूरोंके गिरमिटिया कहते हैं। ये अपने सेठ, या अपने कामका चुनाव स्वयं नहीं कर सकते। वे शर्तों से बंधे हुआ होते हैं। अिसीलिये उन्हें शर्तबन्द कहते हैं। कुली भी अपमान-जनक नाम है। दैनिक मजदूर लेकर कार्य करनेवालेको मजदूर कहते हैं। बम्बयीमें मजदूरोंका नाम है कामदार। यह शब्द मजदूरोंमें जागे हुआ आत्म-सम्मानका सूचक है। अमेरिकामें मजदूरोंको 'हेल्पस्' या मददगार (महायक) कहते हैं। जो मनुष्य मजदूर रखता है, वह परःवलंबी है, पंगु है और मजदूर अपने कामका पारिश्रमिक लेते हुआ भी समाज-सेवा करता है यह भाव अिस नाममें समाविष्ट है। मराठीमें मजदूरोंके लिये पुराना शब्द 'गड़ी' है। गड़ी अर्थात् दोस्त, भिड़ या साथी। पारिश्रम-में सब समाज हैं, पारिश्रममें भ्रातृ-भाव वर्तमान है, और जो हमारा काम करता है वह हमारे ही वर्गका, हमारी बराबरीका है। यह सभी अर्थ-झाया 'गड़ी' शब्दमें एकदम आ जाती है।

दूसरे अद्योगवाले मनुष्य जैसे समाजहितका विचार करते हैं और अपना कर्तव्य समझकर बहुतेरे सार्वजनिक कर्तव्योंका पालन करते हैं, अुसी तरह मजदूरोंको भी करना चाहिये। जिस मनुष्यको पारिश्रम करनेका अभ्यास है, वह सच पट्टा जाय तो समाजका राजा है। वह किसीपर निर्भर नहीं, बल्कि दूसरे लोग ही असपर निर्भर रहते हैं। हर एक मजदूर इस बातको जानता है कि पैसेवाले लोग असपर अवलम्बित रहते हैं। वह इस बातको जानता है; अिसीसे वह कई बार दूसरेको असुविधामें देखकर अधिक मजदूरी पानेका प्रयत्न करता है। यदि मजदूर लोग अपने हितको बराबर समझ लें तो वे अधिकाधिक मजदूरी प्राप्त करने हीमें अपनी शक्ति का व्यय न करके अपनी प्रतिष्ठा और अपनी स्वार्थानताको बढ़ानेका प्रयत्न करेंगे। अेक मामूली क्लर्ककी अपेक्षा साधारण मजदूर अधिक कमाता है, अधिक उपयुक्त

होता है और अस्की तुलनामें अधिक स्वतन्त्र भी होता है। परन्तु फिर भी क्लर्क अपनी सामाजिक प्रतिष्ठाकी रक्षा कर सकता है, किन्तु मजदूरसे अभी यह नहीं होता।

सच देखा जाय तो मजदूर मालिकका आश्रित नहीं, बल्कि मालिक ही मजदूरोंका आश्रित है। मजदूरोंकी पूँजी उनके शरीर-में है और वे उसे अपने साथमें लेकर घूम सकते हैं। अन्हें अस्मका बोझ नहीं लगता। मालिक तो पूँजीके साथ बँधा होता है और असीसे वह संगठित मजदूरोंके सम्मुख आश्रितके समान ही होता है।

×

×

×

मजदूरोंका अद्धार तो तभी होगा जब वे अस् बातको जानने लग जावेंगे कि हम समाजकी किस तरह विशेष सेवा करते हैं- समाज-व्यवस्था में हमारा स्थान कहाँ है, तथा समाजके प्रति हमारा कर्तव्य क्या है। पर अस् ज्ञानकी प्राप्तिके लिये मजदूरोंको शिक्षाकी आवश्यकता है। अस् बातको मजदूर शिक्षासे ही समझेंगे कि देशकी और संसारकी स्थिति कैसी है और अस्में मजदूर अपनी अच्छाईके अनुसार चाहे जो काम किस तरह कर सकते हैं। मजदूर-वर्ग समाजको आबाद भी कर सकता है और बरबाद भी।

१४

श्रमजीवी बनाम बुद्धिजीवी

अदर-निर्वाह अथवा समाज-सेवाके जो अनेक पेशे हैं अन्के सामान्यतः दो भाग किये जा सकते हैं। अेक श्रमजीवी और दूसरा बुद्धिजीवी। किसान, जुलाहा, राज, बढ़ा, लुहार, नाश्ती, धोबी, कुम्हार, गुमास्ता ये तो श्रमजीवी हैं (और क्लर्क, अध्यापक, सरकारी अधिकारी, न्यायाधीश, वकील ये सब बुद्धिजीवी

हैं।) पुरानी पूँजीके सूदपर अपना जीवन-निर्वाह करनेवाला अक तीसरा वर्ग भी होता है जो बिना किसी सेवाके समाजमें रहना चाहता है। पर न तो उसे पेशाकार न समाज-सेवक कहा जा सकता है। पेशाकारोंके तो केवल दो ही वर्ग हैं—श्रम-जीवी और बुद्धिजीवी। कितने ही देशोंमें अिन दो पेशोंमें से श्रमजीवी पेशेकी अपेक्षा बुद्धिजीवी पेशेको अधिक अूँचा माननेकी बुरी प्रथा हो गयी है।

हमारे देशमें तो श्रमजीवी पेशेको बिलकुल नीचा मानने की प्रथा बहुत पुराने समयसे ही चली आयी है जिसके कारण हमारे समाजका अमीम हानि हुआ है।

आज भी मनुष्य शिक्षा अिसी अुदेश्यसे प्राप्त करता है कि वह परिश्रम करनेकी सजासे बच जाय। अक दिन मैं सिधमें अपना स्नानगृहकी सफाअी कर रहा था। यह देख अक प्रख्यात धर्मोपदेशक मुझसे पूछने लगे, “अजी अैसा काम करना था तो अितनी अङ्गरंजो क्यों पढ़ा ? चार अिल्म पढ़े हैं, फिर भी अपने हाथसे काम कर रहे हैं। मुझे बड़ी शर्म मालूम होती है।” भारतवर्षकी अतीत भव्यताके दिनोंमें हम लोगोंमें अिस तरहके विचार न थे। भारतवर्षके विद्यार्थी अपने गुरुके मकानपर पशुके जैसा कठिन काम करते। पर कभी वे अुबते न थे और न शमाते थे। अुपनिषद्के आचार्य अपने गुरुके घरपर गौओंको चराते थे। स्वयं श्राकृष्ण गुरु-गृहपर रोज जंगलसे लकड़ीके बोझ लाते थे। विद्यापीठके वृद्ध पण्डित लोग अवकाश मिलनेपर पत्तलें बनाते थे। कोअी यह नहीं सोचता था कि शारीरिक परिश्रम करनेसे बुद्धिका कोअी अुपयांग नहीं होता या प्रतिष्ठाको हानि पहुँचती है। शारीरिक परिश्रम अक आवश्यक यज्ञ समझा जाता। असलिये लोग सौ-सौ वर्ष तक जीते रहते थे। राजा और सरदार लोग भी कम-से-कम अपने शरीरको सर्व-कार्य-क्षम

बनाये रखनेके लिये सभी प्रकारके परिश्रम करनेकी आदत बनाये रखते । धर्म-शास्त्रकारोंकी आज्ञा थी कि बंजर ज़मीनकी झाड़ी वगैरा कट जानेपर अ़सपर पहला हल तो राजाको ही चलाना चाहिये । क्योंकि तब राज्यका आद्य किसान राजा ही समझा जाता था ।

अस प्रथाके कारण श्रमजीवी और बुद्धिजीवी वर्गोंके बीच पूरा-पूरा सहयोग रहता था । बुद्धिमान् और धनवान् लोग भी परिश्रमी कारीगर वर्गकी क़दर करते और दोनों वर्गोंके बीच संस्कारोंका आदान-प्रदान होता रहता था । अिसी ज़मानेमें यह कहावत प्रचलित थी कि “किसानके शरीरपर लगी हुआ मिट्टी-को झाड़ दो और अ़से राजवस्त्र पहना दो कि वह राजा बन जाता है ।” राजोचित संस्कारोंकी न्यूनता अ़ममें कभी रहती ही नहीं थी । असलिये अ़स ज़मानेमें प्रत्येक जातिमें शूर सरदार पैदा होते थे । देशकी रक्षा कैसे होगी, यह कायर-चिंता किसीके चित्तको स्पर्शतक नहीं कर सकती थी । और जाति-जातिके बीच शायद ही कभी वैमनस्य होता था ।

आज तो अंग्रेज़ों राज्यके कारण अथवा अससे पहले ही से पढ़े-लिखे और अपढ़ोंका भेद तो चला ही आया है । पर श्रमजीवी और बुद्धिजीवीके बीच भी बहुत कम आकर्षण और सम्बन्ध देखा जाता है । बुद्धिजीवी मनुष्योंको शारीरिक परिश्रम नहीं करना पड़ता हो अथवा श्रमजीवियोंको बुद्धिका प्रयोग नहीं करना पड़ता हां सो बात भी नहीं । फिर भी अपर्युक्त भेद तो स्पष्ट ही है । आधुनिक सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनैतिक जागृतिके ज़मानेमें अ़ेक वर्गके प्रयास दूसरे वर्गतक पहुँच ही नहीं पाते । श्रमजीवी लोगों के सुख-दुःखोंके विषयमें बुद्धिजीवी लापर्वाह तो होते हां हैं पर अ़ससे भी विशेष बात तो यह है कि वे अ़ससे अनभिज्ञ भी रहते हैं । बुद्धिजीवी लोग अपने आन्दो-

लनोंका रहस्य श्रमजीवी लोगोंको अनुकी अपनी भाषामें नहीं समझा सकते । असलिये आज स्वराज्यके विषयमें भारतवर्षमें अतिनी तीव्र झुत्कण्टा होनेपर भी हम अपनी शक्तियोंको अकेल नहीं कर सकते ।

असका तो अके ही अपाय है । श्रमजीवी लोगोंमें शिक्षाका प्रचार । और बुद्धिजीवी लोगोंमें परिश्रमकी प्रतिष्ठा । श्रमजीवी लोगोंमें शिक्षाका प्रचार करना चाहे कितना ही कठिन हो वे तो उसके लिये तैयार ही हैं । यदि बुद्धिजीवी लोग श्रम करनेको तैयार हो जायं तो अनुके लिये भी कोअरी काम असम्भव नहीं रहेगा । पर अनुको यह बात बड़ी अटपटी मालूम होती है । अिन दो वर्गोंके बीच जबतक सहयोग नहीं होगा; तबतक स्वराज्यके लिये कहिये अथवा अन्य किसी कार्यके लिये कहिये, राष्ट्रकी शक्तिको अकेल करना दुष्कर है । शारीरिक परिश्रमके प्रति तिरस्कार होना बुद्धिजीवी लोगोंके लिये अके सार्वत्रिक रोग-सा हो गया है । यह अनुमान नहीं, अनुभवकी वाणी है ।

स्वराज्यकी योजनाओं तो हम चाहें जितनी बना सकते हैं । भला अुर्वर मस्तिष्कमें योजनाओंकी भी कमी हो सकती है ? पर अनुपर अमल कौन करेगा ? स्वराज्य-स्थापनाके लिये आवश्यक मेहनत हम प्रस्ताव पास करके सरकार से तो नहीं करा सकते । जिसे स्वराज्यकी आवश्यकता हो अुसीको परिश्रमकी दीक्षा लेनी चाहिये, श्रमजीवी लोगोंका-सा जीवन न्यतीत कर अनुके साथ हमें समभाव पैदा करना चाहिअे । तभी अिन दो वर्गोंके बीचका अंतर कमहोगा, और स्वराज्य-कार्यकी कुछ बुनियाद पड़ेगी । जिस तरह दूसरेसे कसरत कराकर मैं बलिष्ठ नहीं हो सकता अुसी प्रकार अपने अवजी या प्रतिनिधि-द्वारा श्रम-दीक्षा नहीं ली जा सकती । यदि कोअरी कहता है कि मुझे स्वराज्य चाहिये तो असका कोअरी अर्थ ही नहीं होता जबतक वह स्वयं

परिश्रम करने नहीं लग जाता। जिसने स्वराज्यके लिये श्रम-दीक्षा ले ली है वही स्वराज्यका भूखा कहा जा सकता है। प्रजाकी शक्तिका विकास और संगठन करनेका यही अकेला उपाय है।

यह बात समझमें आने पर कांग्रेसका सभ्य होनेके लिये कातना आवश्यक है, जिस नियमका अर्थ समझनेमें किसीको देर नहीं लगेगी। हम गत ३५-४० वर्षसे कहते आये हैं कि स्वदेशीमें ही स्वराज्य है। उस स्वदेशीको यदि हम अतने वर्षोंमें भी सफल नहीं कर बतावेंगे तो कहा जायगा कि हमने अपने देशकी बुद्धि और कर्तृत्व-शक्ति दोनोंको अपमानित किया है। स्वराज्य-स्थापना-में जो विलम्ब हो रहा है उसको दूर करनेका यही अकेला मार्ग है कि कांग्रेसको सर्व-संग्राहक बनानेके लिये सभी पक्ष स्वेच्छा-पूर्वक जिस वस्तुका सम्पूर्ण स्वीकार करें।

१५

धर्म-संस्करण

कुछ लोग कहते हैं कि हमारा धर्म सबसे पुराना है जिसलिये वही सबसे अच्छा है। दूसरे कहते हैं कि हमारा धर्म सबसे आखिरी है अतः वह सबसे अधिक ताजा है। कोश्री कहते हैं कि अमुक पुस्तक आद्य धर्म-ग्रन्थ है, जिसलिये उसमें सब-कुछ आ गया है। तो दूसरे कहते हैं कि फलाँ किताब परमात्माका संसारको दिया हुआ सबसे आखिरी धर्म-ग्रन्थ है, जिसलिये उसका अलङ्घन नहीं कर सकते।

सनातन-धर्म दूसरी ही तरहसे विचार करते हैं। सृष्टिका आदि और अन्त हो सकता है। धर्म-ग्रन्थोंका भी आदि और अन्त हो सकता है। पर धर्म तो अनादि-अनन्त है। जिसलिये वह सनातन कहा जाता है। सनातनके मानी क्या हैं? जो जिस सृष्टिके प्रारंभके पहले था और जो उसके अन्तके बाद भी

कायम रहेगा, वही सनातन है। जिस अर्थके अनुसार तो आत्मा और परमात्मा ही सनातन माने जा सकते हैं।

पर सनातनका और भी अर्थ है। जो नित्यनूतन होता है वह स्वभावतः ही सनातन है। जो जीर्ण होता है वह तो मर जाता है। जो बदलता नहीं वह सड़ जाता है। जिसकी प्रगति नहीं है उसकी अयोगति बनी बनाही है। बँधी हवा बदबू पैदा करती है। जो पानी बहता नहीं है वह स्वच्छ नहीं रहता। पहाड़ के पत्थर बदलते नहीं जिसलिये वे धीरे-धीरे चूर्ण हो जाते हैं। घास पुनः अगती है, बनकी वनस्पतियाँ प्रतिवर्ष मरती हैं और फिर दूसरे साल अगती हैं। बादल खाली होते हैं और फिर भरते हैं। प्रकृति को नित्यनूतन होनेकी कला अवगत होगी है जिसलिये वह हमेशा नवयौवना दीखती है।

सनातन-धर्मके व्यवस्थापक जिस सिद्धान्तको जानते थे इसीलिये युगधर्मके अनुसार उन्होंने भिन्न-भिन्न धर्मोंकी रचना की है। वे काल-महात्म्यको जानते थे इसीलिये वे कालपर विजय प्राप्त कर सके। धर्मके आध्यात्मिक सिद्धान्त अचल और अटल हैं। पर धर्मका व्यवहार देश-कालके अनुसार बदलना पड़ता है। जिस बातको जानकर ही धर्मकारोंने हिन्दू-धर्मकी रचनामें 'परिवर्तन-तत्त्व' शामिल कर दिया। इसी कारण यह धर्म सनातन पद प्राप्त कर सकता है। अनन्त बार वह क्षीण-प्राण जरूर हुआ पर निष्प्राण कभी नहीं हुआ। मनुष्यकी जड़ताके कारण कभी बार इसमें गन्दगी भी फैल गयी, पर बिना किसी विप्लवके वह फिर पुनरुज्जीवित हो अठा।

सामाजिक व्यवस्था अथवा धार्मिक विधियोंके पालनमें कालानुकूल परिवर्तन होना आवश्यक है। पर जबसे हिन्दू-समाजमें अबुद्धिने अपना अड्डा जमाया है तबसे वह (हिन्दू-समाज) ऐसे परिवर्तनोंको शंकित दृष्टिसे देखने लग गया है। अनेक ऐसी

भीति और नास्तिकता हमारे अन्दर घुम गयी है कि हम हर समय कहने लग जाते हैं कि, “क्या पूर्वजोंकी अपेक्षा हम अधिक होशियार हो गये ? पूर्वज तो त्रिकालका विचार कर सकते थे। उनकी रचनामें हम कहीं कोश्वी परिवर्तन कर बैठेंगे तो शायद हम संकटमें पड़ जायेंगे।” सच पूछा जाय तो अिस तरह परिवर्तन-से डरना सनातन धर्मके स्वभावके ही विपरीत है। विचार-हीन अुच्छ्रंखल परिवर्तनकी तो हिमायत ही कौन करेगा ? पर अज्ञान के कारण डरकर निष्प्राण स्थिरताको खोजना पुरुषार्थ नहीं बल्कि मृत्यु ही है।

अपनेको छोड़कर दूसरेका ग्रहण करना अेक अलग बात है; और अपना तथा परकीय धर्म दोनोंको जाँचकर तुलनाकर अुस-में आवश्यक परिवर्तन करना दूसरी बात है। प्रत्येक जमानेमें नवीन-नवीन संयोग हमारे सामने अुपस्थित कर परमात्मा हमारी बुद्धि-शक्तिको आजमानेके लिये सामग्री अुपस्थित करता रहता है और अुसके द्वारा धर्मके मूलभूत सिद्धान्तोंका परिचय हममें पुनः-पुनः जाग्रत करता है। बाह्य आकार में यदि बार-बार परिवर्तन न हो तो आन्तरिक सच्चे स्वरूपका दर्शन असम्भव हो जाय। यदि हमारे जमानेमें पूर्वजोंकी ही बुद्धि-हीन नक़ल हम करते चले जायँ; कुदृ भी न रोने न करें, कोश्वी आशिष्कार भी न करें, तब तो कहा जायगा कि हमारी शताब्दि वन्ध्या साबित हुअी।

प्राचीनकालसे ही हमारे देशमें भिन्न-भिन्न धर्म और जातियाँ अेकत्र रहती आअी हैं। प्रत्येक बार अैसे सहवासके कारण हमें भिन्न-भिन्न धर्म प्रवचन करना पड़े हैं। आवश्यकतानुसार अेक ही धर्म-सिद्धान्तको, भिन्न-भिन्न शंकाओं और दोषोंको दूर करने-के लिये, भिन्न-भिन्न शब्दों में जनताके सामने अुपस्थित करना पड़ता है। और अिसलिये यह धर्म अनेक कोण वाले तेजस्वी रत्नोंके समान अधिकाधिक दिव्य बनता गया।

विदेशी सत्ताकी अधीनता में रहते समय धर्मको अत्यन्त हीन और कृत्रिम वायु-मण्डलमें दिन काटना पड़ता है। विरोधी लोग जिस समय आक्रमण करते रहते हैं तब भी धर्म-संस्करण-का स्वाभाविक विकाम नहीं होता। यही डर लगा रहता है कि हम कोश्वी परिवर्तन करने जावें। और अुसी समय विरोधी लोग हमारी कमजोरी देखकर मर्माघात कर बैठे तब ? परकीय सत्ता स्वभावतः समभाव-शून्य होती है। वह रूढ़िको पहचानती है, प्राणको नहीं। असलिये वह कहती है, “पूर्वापरसे तुम्हारे जो रिवाज चले आये हैं अुन्हींकी रत्ता की जायर्ग। नवीन प्रथाओं तुम शुरू नहीं कर सकते, न अपने स्थानसे कहीं भी अधर-अुधर हट ही सकते हो। पुराने कलेवरको हमारा अभयदान है। तुम्हारे प्राणको राजमान्य कर दें तो हमारे प्राण कैसे टिके रहेंगे ?” अस तरह समभाव-शून्य तटस्थतामें सड़ी रूढ़ियाँ भी कानूनकी कृत्रिम सहायतासे टिकी रहती हैं।

‘हिन्दू-ला’ पर अमल करते समय पद-पदपर यही स्थिति विघ्न अुपस्थित करती है। न्यायमूर्ति तेलंगने अस स्थितिके खिलाफ कश्वी बार अपनी अप्रसन्नता और घोर विरोध प्रकट किया था। प्रत्येक धर्म और समाजको अपनी व्यवस्थामें हेर-फेर करने-का अधिकार होना ही चाहिये। पर यह करनेके लिये आवश्यक स्वाधीनता, अेकता और योजना-शक्तिका भी समाजमें होना नितान्त आवश्यक है। बड़े-से-बड़ा त्याग करके हमें अुसका विकास अपने अन्दर अवश्य ही करना चाहिये। यदि हिन्दू-धर्म-को प्राणवान बनाये रखना है, संसारमें अुसे अपना स्वाभाविक स्थान पुनःप्राप्त करना है, यदि अुसे समाज-कल्याणकारी बना लेना है तो धैर्य-पूर्वक हमें अुसकी गंदगीको धो डालना चाहिये। कितने ही अुसे खयालात और रूढ़ियाँ हमारे समाजके अन्दर बद्धमूल हो गश्वी हैं कि जो धर्मके सनातन सिद्धान्तोंके विपरीत हैं

और जो समाजकी प्रगतिमें बुरी तरह बाधक हो रही हैं। अनु सबकी हमें अकेदम होली कर देना चाहिये।

अस्पृश्यता अिन्हीं बुराअियोंमें से अेक है। जातिगत अहंकार और संकुचित प्रेम दूसरी बुराअी है। जहाँ रूढ़िके नाम पर दया-धर्मका खून हो रहा हो, जहाँ आत्माका अपमान हो रहा हो, जहाँ धर्म-प्रीतिके बदले लालच और भीति को स्थान दिया जा रहा हो वहाँ धर्मको अिन बुराअियोंके खिलाफ अपनी बुलन्द आवाज अुठानी चाहिये। सरकारी अधिकारिकोंको रिश्वत देकर अपना मतलब गाँठनेवाले लोग अेक परमात्माको—अीश्वरको छोड़कर असुके बदले अनेक भयानक शक्तियोंको लालच दिखाना धर्म समझने लग गये। तानाशाह, तामसी, सनकी और खुशामद-प्रिय अधिकारियोंकी अधीनतामें रह कर नामर्द बने हुअे लोग देव-देवियोंका स्वभाव भी अुन्हींके जैसा समझकर अनुके प्रति भी भय-वृत्तिका विकास करने लगे; और अिस तरह अपने धर्ममें अधर्मका साम्राज्य स्थापित किया। सत्यनारायणसे लगाकर कालभैरव तक सभी देवताओंको हमने डरावने गुंडे (Bullies) बना रक्खा है। आकाशस्थ तारकाओं, ग्रह, जंगलके वृक्ष और वनस्पतियाँ, हमारे भाअी-बन्धु, पशु-पक्षी, अूषा और सन्ध्या, अतु और संवत्सर प्रत्येक स्थानपर, जहाँ कि हमारे अृषि अस परम मंगलकी प्रेममय विभूतियोंका साक्षात्कार करते थे, अनुके साथ आत्मीयता और अेकताका अनुभव करते थे, वहाँ आज हमें भय, भय और सिवा भयके और कुछ दीखता ही नहीं। धर्मका शुद्ध और अुदात्त तत्त्व जाननेवाले लोग हमारे विधि-विधानोंके अन्दर रहनेवाले काव्यको देख सकते हैं। परन्तु अज्ञ-जन-समुदाय काव्यको सनातन सिद्धान्त अथवा वास्तविक स्थिति मानकर विचित्र अनुमान करते हैं और अुन्हींको पकड़ बैठकर धर्मका कार्य विफल कर डालते हैं।

आज हिन्दू-धर्मका अतृर्ष चाहनेवाले प्रत्येक मनुष्यका यही प्रथम कर्तव्य है कि वह अिस बातकी कोशिश करे कि असुके समाजमें धर्मका शुद्ध स्वरूप प्रकट हो । जिसमें सत्यकी निर्भयता नहीं, त्यागकी अकलमन्दी नहीं, अदरताकी सुगन्ध नहीं. वहाँ धर्म है ही नहीं-यह हमें निश्चित रूपसे समझ लेना और लोगोंको समझाना भी चाहिये । हिन्दू धर्मके संस्करणका समय आ गया है क्योंकि असुपर जमी दुअ्री गर्द असका दम घोट देनेको है ।

जीवित अतिहास

?

जीवित अतिहास

हिन्दुस्तानका अतिहास हिन्दुस्तानियों द्वारा नहीं लिखा गया है। रामायण और महाभारत आजके अर्थमें अतिहास नहीं कहे जा सकते। आधुनिक दृष्टिसे तो वे अतिहास हैं भी नहीं। रामायण, महाभारत और पुराणोंमें भी कुछ अतिहास तो है, लेकिन वह सब धर्मका निश्चय करनेके लिये दृष्टान्तरूप है। महावंश और दीपवंश अतिहास माने जा सकते हैं, पर वे लंकाके हैं, और उनमें अतिहासकी चर्चा बहुत कम हुआ है। काश्मीरकी राजतरंगिणीके विषयमें भी यही कहना पड़ता है। तो फिर हमारा अतिहास क्यों नहीं है ? जीवनके किसी भी अंगको लीजिये, हम लोगोंने उसमें असाधारण प्रवीणता प्राप्त की है; फिर भी हमारे यहाँ अतिहास क्यों नहीं ?

अतिहासका अर्थ है, मनुष्य-जातिके सम्मुख उपस्थित हुआ प्रश्नोंका अल्लेखन। अिनमेंसे कुछ प्रश्नोंका निराकरण हुआ है, और कुछ अभीतक अनिर्णीत हैं। जिन प्रश्नोंका निश्चय हो सका है, वे अब प्रश्न नहीं रहे; उनका निराकरण हो चुका; अब वे समाजमें—सामाजिक जीवनमें—संस्कार-रूपसे प्रविष्ट हो गये हैं। जिस प्रकार पचे हुआ अन्नका रक्त बन जाता है, उसी प्रकार अिन प्रश्नोंने राष्ट्रीय मान्यता या सामाजिक संस्कार-का रूप प्राप्त कर लिया है। खाना हजम हो जानेपर मनुष्य अिस बातका विचार नहीं करता कि कल उसने क्या खाया

था। ठीक अिसी तरह जिन प्रश्नोंका उत्तर मिल चुका है, अनुके विषयमें भी वह अुदासीन रहता है।

अव रहा सवाल अनिर्णीत प्रश्नोंका। हम लोग परमार्थी (Serious) हैं। हम अनिर्णीत प्रश्नोंको कागजपर लिखकर छोड़ देना नहीं चाहते। अनिर्णीत प्रश्नोंमें मतभेद होते हैं। जितने मतभेद होते हैं, अुतने ही सम्प्रदाय हम खड़े कर देते हैं। वेदोंके अुच्चारणमें मतभेद हुआ, तो हमने भिन्न-भिन्न शाखाओं खड़ी कर दीं! ज्योतिषमें मतभेद हुआ, तो वहाँ भी हमने स्मार्त और भागवत श्रेकादशियाँ अलग-अलग मानीं। दर्शनशास्त्रमें तत्त्वभेद मालूम हुआ, तो हमने द्वैतवादी तथा अद्वैतवादी संप्रदायोंका निर्माण किया। आहार या व्यवसायमें भेद हुआ, तो हमने भिन्न-भिन्न जातियाँ बना लीं। जहाँ सामाजिक रीति-रिवाजोंमें मतभेद हुआ, वहाँ हमने भट अुपजातियाँ खड़ी कर दीं। अगर गलतीसे कोअी आदमी किसी रिवाजको तोड़ दे या बड़े-से-बड़ा पाप करे, तो अुसके लिये भी प्रायश्चित्त है; सिर्फ अुसके लिये नअी जाति खड़ी नहीं की जाती। महान् अैतिहासिक और राष्ट्रीय महत्त्वकी घटनाओंके अितिहासको हम लोग त्योहारों द्वारा जाग्रत रखते हैं। अिसी तरह हरअेक सामाजिक आन्दोलनके अितिहासको, अुस आन्दोलनके केन्द्रको, तीर्थका रूप देकर हम लोगोंने जीवित रखा है। अिस तरह अितिहास लिखनेकी अपेक्षा अितिहासको जीवित रखना, अर्थात् जीवनमें अुसे चरितार्थ कर दिखाना, हमारे समाजकी खूबी है। चिथड़ोंके बने कागजपर अितिहास लिखकर अुसे सुरक्षित रखना अच्छा है, या जीवनमें ही अितिहासका संग्रह करके रखना अच्छा है? क्या यह कहना मुश्किल है कि अिन दोनोंमेंसे कौनसा मार्ग अधिक सुधरा हुआ है? जबतक हमारी परम्परा टूटी नहीं थी, तबतक हमारा अितिहास हमारे जीवनमें

जीवित था ! आज भी यदि लोगोंके रीति-रिवाजों, अनुकी धारणाओं, जातीय संगठनों और त्योहारोंकी खोज की जाय, तो बहुत-सा अतिहास मिल सकता है, हाँ, यह ठीक है कि वह अधिकांशमें राजकीय या राजनीतिक नहीं बल्कि सामाजिक और राष्ट्रीय होगा । क्या अतिहासके संशोधक अिस दिशामें परिश्रम न करेंगे ?

२

शारदाका अद्बोधन

हम नहीं जानते कि किस नवमीको सुरोंने शारदाका अद्बोधन किया था । लेकिन वह अत्यन्त शुभ, सुभग और कल्याणकारी मुहूर्त्त होना चाहिये । समृद्धिदायी वर्षाके बाद जो शान्ति, जो निर्मलता, जो प्रसन्नता दृष्टिगोचर होती है, अुसीमें देवताओंको शारदाका दर्शन हुआ । धरतीने अभी हरा रंग नहीं छोड़ा है, परिपक्व धान्य सुवर्णवर्णकी शोभा फैला रहे हैं—औरसे समयपर देवोंने शारदाका ध्यान किया । सज्जनोंके हृदयोंके समान स्वच्छ पानीमें विहार करनेवाले प्रसन्न कमल और आकाशमें अनन्त काव्यके फव्वारे छौड़नेवाला रसस्वामी चन्द्र, ये दोनों जब अेक-दूसरेका ध्यान कर रहे थे, अुसी समय देवोंने शारदाका आवाहन किया । शारदा आँसी और अुससे पृथ्वीके वदन-कमल पर सुहास्य फैला । शारदा आँसी और वनश्रीका गौरव खिल उठा शारदा आँसी और घर-घर समृद्धि बढ़ गयी । शारदा आयी और वीणाका भँकार शुरू हुआ; संगीत और नृत्य ठौर-ठौर आरम्भ हुआ ।

शारदाका स्वरूप कैसा है ? बाला ? मुग्धा ? प्रौढ़ा ? या पुरंधी ? शारदा मंजुलहासिनी बाला नहीं है, मनमंहिनी मुग्धा नहीं है, विलासचतुरा प्रौढ़ा नहीं है । वह तो नित्ययौवना किन्तु स्तन्यदायिनी माता है । वह हमारे साथ हँसती है, खेलती है;

मगर वह हमारी सखी नहीं, माता है। हम उसके साथ बालोचित क्रीड़ा कर सकते हैं; लेकिन हम यह न भूलें कि हम माताके मन्मुख खड़े हैं। माता अर्थात् पवित्रता, वत्सलता, कारुण्य और विश्रब्धता। माता अर्थात् अमृत-निधान। 'न मातुः परदैवतम्।' यह वचन किसी उपदेशप्रिय स्मृतिकारका गढ़ा हुआ नहीं है। यह तो किसी मातुः पुत्र धन्य बालककी अमृतवाणी है।

चराचर सृष्टिकी अेकताका अनुभव करनेवाले हम आर्य मन्तान अेक ही शब्दमें अनेक अर्थोंको देखते हैं। शारदा यानी मरोवरमें विराजमान कमलोंकी शोभा। शारदा यानी शरत् पूनो और दीवालीकी कान्ति। शारदा यानी यौवनसहज ब्रीड़ा। शारदा यानी कृषिलक्ष्मी। शारदा यानी साहित्य-सरिता। शारदा यानी ब्रह्मविद्या, चिच्छक्ति। शारदा यानी विश्वसमाधि। औसी ही यह हमारी माता है; हम उसके बालक हैं। कितनी धन्यता ! कितनी स्पृहणीय पदवी ! कितना अधिकार ! और साथ ही कितनी बड़ी दीक्षा !

शारदाके स्तन्यका स्पर्श जिन होठोंको हुआ हो, वे होठ अपवित्र वाणीका अुच्चारण नहीं करेंगे; निर्बलताके वचन मुँहसे नहीं निकालेंगे; द्वेषका सूचन तक न करेंगे; पापको नहीं सँवारेंगे; पौरुषकी हत्या नहीं करेंगे, और मुग्धजनोंको धोखा न देंगे।

शारदाके मन्दिरमें सर्वोच्च कला हो, कलाके नामपर विचारनेवाली विलासिता नहीं। शारदाके भवनमें प्रेमका वायुमंडल हो, केवल सौन्दर्यका मोहन नहीं। शारदाके अपवनमें प्राणोंका स्फुरण हो, निराशाका निःश्वास नहीं। शारदाके लताकुञ्जोंमें विश्वप्रेमका संगीत हो, परस्पर अनुनयका मूर्खतापूर्ण कलकूजन नहीं। शारदाके विहारमें स्वतंत्रताकी धीरोदात्त गति हो, उद्देश्यहीन और स्वलनशील पद-क्रम नहीं। शारदाके पीठमें ब्रह्मरसका प्रवाह हो, विषय-रसका अनुमाद नहीं।

माता शारदा ! आशीर्वाद दे कि हमें तेरा स्मरण अखंड बना रहे ! जब हम अधिकारी बनें, तो तू हमें अपने दर्शन दे ! अगर हमारा ध्यान अविचल रहे, हमारी भक्ति ओकाग्र और अतृप्त बने, तो तू हमें अपनी दीक्षा दे । और जब हम तेरी अखंड सेवाके लायक बन जायें तब अतनी भिक्षा दे कि केवल तेरी सेवाकी ही धुन हमेशा हमपर सवार रहे ! तुझे कोटिशः प्रणाम हैं !

या देवी सर्वभूतेषु श्रद्धारूपेण संस्थिता ।

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥

अक्तूबर, १९२४

३

जन्माष्टमीका उत्सव

देशकी राजनैतिक स्थितिके बारेमें अक वृद्ध साधुके साथ अक बार मेरी बातचीत हुआ थी । बातचीतके सिलसिलेमें मैंने राजनिष्ठाके बारेमें कुछ कहा । साधु महाराज अकदम बोल अठे : “अजी, हिन्दुस्तानमें तो दो ही राजा हुआ हैं । मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र और जगद्-गुरु श्रीकृष्ण । आज भी अिन दोनोंका ही हम लोगोंपर राज्य चल रहा है । राजनिष्ठा तो अन्हींके प्रति हो सकती हैं । जमीनपर या पैसेपर राज्य करने-वाले चाहे जो हों, लेकिन हिन्दुओंके हृदयोंपर राज्य चलानेवाले तो ये दो ही हैं ।” मुझे यह बात बिलकुल सही मालूम हुआ । भजन पूरा करके ‘राजा रामचन्द्रकी जय’ या ‘कृष्णचन्द्रकी जय’ पुकारकर लोग जय-जयकार करते हैं, अस समय जिस तरहकी भक्तिका अद्रेक दीख पड़ता है, अस तरहकी भक्ति दूसरे किसी भी मानवी व्यक्तिके प्रति पैदा नहीं होती ।

श्रीरामचन्द्रजीका जीवन जितना अदुत्त है, अतना ही सुगम

भी है। रामचन्द्र, आर्य पुरुषोंके आदर्श पुरुष—पुरुषोत्तम हैं। सामाजिक नीति-नियमोंका रस्म-रिवाजोंका, वह परिपूर्ण पालन करते हैं। अतना हा नहीं, बल्कि रामचन्द्रजी लोकमतको अतना मान देते हैं कि जो किसी भी प्रजासत्ताक राज्यके राष्ट्राध्यक्षके लिये आदर्शरूप हो सकता है। रामचन्द्रजीमें यह निश्चय दृढ़ है कि 'मेरा अशेष जीवन समाजके लिये है'।

श्रीकृष्ण भी पुरुषोत्तम हैं; लेकिन अलग युगके। श्रीकृष्णमें यह वृत्ति दिखायी देती है कि जब समाज-संगठन स्वयं ही आत्मिक अन्नतिमें बाधक होता है, तब उसके बंधन तोड़ दिये जायें और नवीन नियम बनाये जायें। फिर भी श्रीकृष्ण अराजक वृत्तिके नहीं थे। लोकसंग्रहका महत्त्व वे अच्छी तरह जानते थे। श्रीकृष्णने धर्मको एक नया ही रूप दिया। और असी-लिये श्रीकृष्णके जीवनका हरएक प्रसंग रहस्यमय बना है। कोअी व्याकरणकार जिस तरह एक बड़ा सर्वव्यापी नियम बनानेके बाद उसके अपवादोंको एक सूत्रमें प्रथित करता है, उसी तरह श्रीकृष्णने मानो अपने जीवनमें मानवधर्मके सभी अपवाद सूत्रबद्ध किये हैं। गोपियोंसे अत्यन्त शुद्ध पवित्र किन्तु मर्यादा-रहित प्रेम; रिश्तेमें मामा होते हुए भी दुराचारी राजाका वध, भक्तिकी प्रतिज्ञाको सच्चा साबित करनेके लिये अपनी प्रतिज्ञाका भंग करके भी युद्धमें शस्त्र-ग्रहण, आदि सब प्रसंगोंमें 'तत्त्वकी रक्षाके लिये नियमभंग'के दृष्टांत हैं। श्रीकृष्णने आर्य-जनताको अधिक अन्तर्मुख और अधिक आत्मपरायण बनाया और अपने जीवन और उपदेशसे यह सिद्ध करके दिखाया कि भोग और त्याग, गृहस्थाश्रम और संन्यास, प्रवृत्ति और निवृत्ति, ज्ञान और कर्म, अहलोक और परलोक आदि सब द्वन्द्वोंका विरोध केवल आभास रूप है। सबोंमें एक ही तत्त्व अनुस्यूत है। आर्य-जीवनपर सबसे अधिक प्रभाव तो श्रीकृष्णका ही है।

फिर भी यह निश्चित करना मुश्किल है कि जिस प्रभावका स्वरूप क्या है। जिस प्रकार सरल भाषामें लिखी हुआ भगवद्-गीताके अनेक अर्थ किये गये हैं, उसी प्रकार कृष्ण-जीवनके रहस्यका भी विविध प्रकारसे वर्णन किया गया है। जिस तरह वाल्मीकि-रामायणके श्रीरामचन्द्रजी और तुलसीरामायणके श्रीरामचन्द्रजीके बीच महदन्तर है, उसी तरह महाभारतके श्रीकृष्ण, भागवतके श्रीकृष्ण, गीत-गोविन्दके श्रीकृष्ण, चैतन्य-महाप्रभुके श्रीकृष्ण और तुकाराम महाराजके श्रीकृष्ण अलग होते हुए भी भिन्न हैं। वर्तमानकाल में भी नवीनचन्द्र सेनके श्रीकृष्ण, बाबू बंकिमचन्द्रके श्रीकृष्णसे अलग हैं; गांधीजीके श्रीकृष्ण, तिलकजीके श्रीकृष्णसे भिन्न हैं; और बाबू अरविन्द घोषके श्रीकृष्ण तो सबसे न्यारे हैं। सुलभ और दुर्लभ, अलग और अनेक, रसिक और विरागी, विप्लवी और लोकसंग्राहक, प्रेमल और निष्ठुर, मायावी और सरल—ऐसे अनेक प्रकारके श्रीकृष्ण की जयन्ती किस तरह मनायी जाय, यह निश्चित करना महा कठिन काम है।

श्रीकृष्णका चरित्र अतना ही व्यापक है जितना कि कोई संपूर्ण जीवन हुआ करता है। दुनियाकी प्रत्येक स्थितिका श्रीकृष्णने अनुभव किया है। हरअलग स्थितिके लिये उन्होंने आदर्श उपस्थित किया है। श्रीकृष्णकी बाल्यावस्था अतिशय रम्य है। गायों और बछड़ोंपर अउनका प्रेम, वनमालाओंके प्रति अउनकी रुचि, मुरलीका मोह, बालमित्रोंसे अउनका स्नेह, मल्लविद्याकी ओर अउनका अनुराग, सभी कुछ अद्भुत और अनुकरणीय है। छोटे लड़के ज़रूर अिन बातोंका अनुकरण करें। सुदामाके स्नेहको याद करके जन्माष्टमीके दिन हम अपने दूर रहनेवाले मित्रोंको चार दिन अलग साथ रहनेके लिये, श्रीकृष्णका गुणगान करके खेलनेके लिये बुला लें, तो बहुत ही अचित्त होगा।

श्रीकृष्णके मनमें छोटा या बड़ा, अमीर या गरीब, ज्ञानी या अज्ञानी, सुरूप या कुरूप, किसी भी प्रकारका भेद न था। गौओंको चराने जाते समय श्रीकृष्ण अपने सभी साथियोंसे कहते कि हरएक बालक घरसे अपना-अपना कलेवा ले आवे। फिर वे सबका कलेवा एक साथ मिलाकर प्रेमसे सबके साथ वन-भोजन करते थे। आज भी हम एक स्कूलके विद्यार्थी, एक दफ्तरके कर्मचारी, एक मिलके मजदूर, एक क्लबमें खेलनेवाले सदस्य अघट्टा होकर, अपने-अपने घरसे खानेका सामान लाकर, शहर या गाँवके बाहर किसी कुओंपर या नदीके किनारे, पेड़के नीचे गपशप करते, गाते, खेलते या भजन करते हुआँ दिन बितायें तो असमें कैसी नयी-नयी खूबियाँ प्रगट होंगी ! लेकिन इस वन भोजनमें लड्डू, पकौड़ा या चिचड़ा-चबैना नहीं चलेगा। कृष्णष्टमीके दिन मुख्य आहार तो गोरसका ही होना चाहिये। दूध, दही, मक्खन और कन्द-मूल-फलका आहार ही इस दिन के लिये अचित है। धर्म-संशोधक जगद्गुरुका जिन दिन जन्म हुआ, उस दिन तो लड़के इस प्रकारका सात्त्विक आहार ही करें। बड़ा अन्नके लोग अपवास रखें।

अपवासकी प्राचीन प्रथा नहीं छोड़नी चाहिये। असमें काली गहरा रहस्य है। अपवाससे मन अन्तर्मुख हो जाता है। दृष्टि निर्मल होती है। शरीर हलका रहता है। बहुतांका यह अनुभव है कि समय-समय पर अपवास करनेकी आदत हो, तो अपवासके दिन मन अधिक प्रसन्न रहता है। अपवास से वासना शुद्ध होती है, संकल्प-शक्ति बढ़ती है। शरीरमें दोष न हो, तो अपवास करनेसे चित्त एकाग्र होता है, और धर्मके गहरे-से-गहरे तत्त्व स्पष्ट होते जाते हैं। अगर बुद्धियोग हो, तो अपवास करके धर्मतत्त्वका चिंतन किया जाय; और जिसमें अतनी शक्ति न हो, वह श्रद्धावान लोगोंके साथ धर्मचर्चा करे। यह भी न हो

सके, तो गीताका पारायण (पाठ) किया जाय; नामसंकीर्तन, भजन आदि किया जाय; सात्त्विक संगीतके साथ भजन गाये जायँ । अपवासके दिन रोज़मर्राके व्यावहारिक काम जहाँतक हो सके, कम किये जायँ; लेकिन खाली समय आलस, निद्रा या व्यसनमें न बिताया जाय । बहुत बार हमें सुन्दर-सुन्दर धार्मिक वचन, भजन या पद मिल जाते हैं; लेकिन अन्हें लिख रखनेके लिये समय नहीं मिलता ! अिस दिन अूनको लिखनेमें समय बिताया जाय, तो अच्छा होगा ।

जिनमें सार्वजनिक कार्य करनेकी शक्ति हो, अूनके लिये अिससे अच्छा और क्या हो सकता है कि वे गोपालके जन्मोत्सवके दिनसे गोरक्षाका आन्दोलन शुरू करें । श्रीकृष्णके साथियोंको जितना दूध और घी मिलता था, अुतना दूध और घी जबतक हमारे बच्चोंको नहीं मिलता, तबतक यह नहीं जा सकता कि हमने श्रीकृष्ण जन्मोत्सव ठीक-ठीक मनाया है । श्रीकृष्ण अप्रतिम मल्ल थे, गृहस्थाश्रममें रहकर ब्रह्मचर्यका पालन करते थे । वे दीर्घायु थे । अिसलिये हरअेक अखाड़ेमें जन्मोत्सव मनाया जाना चाहिये और श्रीकृष्णके जीवनके अिस भूले हुआ अंगकी याद फिरसे ताज़ा करना चाहिये ।

जो पांडित्यमें ही जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, उनके लिये सबसे अच्छा काम यह हो सकता है कि जिस तरह गीतामें श्रीकृष्णने अर्जुनको उपदेश दिया है, अुसी तरह अूनके भिन्न-भिन्न अवसरपर कहे हुआे तमाम वचन महाभारत तथा भागवत् विष्णुपुराण और हरिवंशमेंसे जितने मिल सकें, उतने सब संग्रहीत करें । और उसके बाद अिन वचनोंका संदर्भ देखकर, श्रीकृष्णचरित्रके अनुसार गीताजीका अर्थ लगायें । और अिस महान् जगद्गुरुका तत्त्वज्ञान (फिलॉसफी ऑव लाइफ) क्या था,

असकी राजनीति कैसी थी, आदि बातें निश्चित करके लोगोंके सामने रखें ।

*

*

*

यह बहुत नाजुक सवाल है कि जन्माष्टमीका दिन स्त्रियाँ किस तरह मनायें । भक्तिके अतिरेकके स्वरूपका नारदने अपने भक्तिसूत्रमें वर्णन किया है । असपरसे मनोवृत्तियोंको गोपी समझकर परब्रह्म पुरुषपर वे कितनी मुग्ध थीं, असका वर्णन कअरी कवियोंने अतिना ज्यादा किया है कि श्रीकृष्णके जीवनके परिपूर्ण रहस्यको जनता लगभग भूल ही गअरी है । श्रीकृष्णको गोपीजनवल्लभ कहा गया है । श्रीकृष्ण और गोपियोंके बीचका प्रेम कितना विशुद्ध और आध्यात्मिक बन गया था; असकी कल्पना जिन हृदयोंको नहीं आ सकी, अन्होंने या तो श्रीकृष्णको नीचे घसीट लिया है, अथवा अस प्रेमका वर्णन करनेवाले कवियोंको हलकी वृत्तिका और असत्यवादी ठहराया है । मेरा कहना यह नहीं है कि कृष्ण और गोपियोंके बीचके प्रेमका वर्णन करनेमें कवियोंने भूल नहीं की है । मैं तो यही मानता हूँ कि समाजकी स्थितिको देखकर कवियोंके लिये अधिक सावधानीके साथ अस प्रेमका वर्णन करना अचित था । मुसलमानी धर्मके सूफी सम्प्रदायके मस्त कवियों और फकीरोंको सजा देते समय कट्टर मुसलमान बादशाह कहते थे कि ये साधु जो कहते हैं, वह गलत नहीं है; लेकिन अनधिकारी समाजके सामने अस तरहकी रहस्यमय बातें रखकर ये समाजको नुकसान पहुँचाते हैं और असीलिये ये सजाके पात्र हैं । चूँकि गोपियोंके प्रेमको हम नहीं समझ सकते, असलिये अस प्रेमको अैसा स्वरूप देनेकी कअरी आवश्यकता नहीं, जो हमारीवर्तमान नीति-कल्पनाओंको पसन्द आये । मोराबाअीने स्पष्ट ही दिखाया है कि गोपियोंका प्रेम कैसा था । जब-जब लोगोंके मनसे धर्मके अपरकी श्रद्धा अूठ जाती है,

तब-तब असुस श्रद्धाको फिरसे स्थिर करनेके लिये मुक्त पुरुष असुस संसारमें अवतार लेते हैं, और स्वयं अपने अनुभवसे और जीवनसे लोगोंमें धर्मके प्रति श्रद्धा पैदा करते हैं । असुसी तरह गोपियोंकी शुद्ध भक्तिके बारेमें जब लोगोंमें अश्रद्धा उत्पन्न हुआ तब गोपियोंमेंसे अकने—शायद राधाजी ही होंगी—मीराका अवतार लेकर प्रेमधर्मकी फिरसे संस्थापना की । यदि हम अश्वर और भक्तके बीचका यह अनिर्वचनीय प्रेम-सम्बन्ध स्पष्ट कर सकें, तब तो गोपियोंके प्रेम और विरहके गीत गानेमें मुझे कौअी आपत्ति नहीं दिखाई देती । मीराके आदर्शका त्याग हमसे हो ही नहीं सकता । जमाना बुरा आ गया है, असुसलिये क्या हम मीराबाअीको भूल जायं ? यह बात नहीं है कि श्रीकृष्णके साथ केवल गोपियोंका ही सम्बन्ध था । यशोदाजी बालकृष्णको पूजतीं, कुन्ती पार्थसारथीको पूजतीं, सुभद्रा और द्रौपदी कृष्णको बन्धुरूपमें पूजतीं, । श्रीकृष्णका यह सम्पूर्ण जीवन हमें अपनी स्त्रियोंके सामने रखना चाहिये । श्रीकृष्ण कितने संयमी थे, कितने नातिज्ञ थे, कितने धर्मनिष्ठ थे, आदि सभी बातें स्त्रियोंके सामने स्पष्ट कर देनी चाहियें । और तभी गोपी-प्रेमका आदर्श अुनके सामने रखना चाहिये । प्रेम और मोहके बीच जो स्वर्ग और नरकके जितना भेद है, अुसे स्पष्ट करके दिखाना चाहिये । पुराणोंमें—भागवतमें— अक बहुत सुन्दर प्रसंगका वर्णन आया है कि रास-लीलामें गोपियोंके मनमें मलिन कल्पना आते ही श्रीकृष्ण-असंख्य रूपधारी श्रीकृष्ण—अचानक अदृश्य हो गये और जब गोपियोंका मन पश्चात्तापसे पवित्र हुआ, तभी वे फिरसे प्रकट हुअे । असुसका रहस्य हरअकको समझ लेना चाहिये । असुस रहस्यको किसी भी व्यक्तिके छिपा रखनेमें कुशल नहीं । अधूरे ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंको हटानेका अुपाय सम्पूर्ण ज्ञान है; अज्ञान नहीं । प्रेमको असुसके विशुद्ध रास्तेसे हमें ले जाना चाहिये । प्रेम

दबानेसे नहीं दबता; बल्कि दबानेके प्रयत्नमें वह विकृत हो जाता है।

जन्माष्टमीके दिन हम सुदामा-चरित्र गायें, श्रीकृष्णजी द्वारा गोपियोंको दिया हुआ उपदेश गायें, अर्जुनके हाथ श्रीकृष्णजीका गोपियोंको भेजा हुआ सन्देश गायें, गीताका रहस्य समझ लें। रास खेलें और उपवास रखकर शुद्ध वृत्तिसे अुसके अन्दरका रहस्य समझ लें।

जन्माष्टमीके दिन अगर हम गायकी पूजा करें, तो वह ठीक ही है। गायकी पूजा करनेमें हम पशुको परमेश्वर नहीं मानते, किन्तु अुस पूजा द्वारा गायके प्रति प्रेम और कृतज्ञता व्यक्त करते हैं। नदीकी पूजा, तुलसीकी पूजा और गायकी पूजा अगर अच्छी तरह सोच-समझकर करें, तो अुससे अन्तःकरणको अच्छी-से-अच्छी शिक्षा मिलेगी, रस-वृत्तिका विकास होगा और हृदय पवित्र तथा संस्कारी बनेगा। प्रत्येक पूजामें अेक-सा ही भाव नहीं रहता। पूजा कृतज्ञतासे हो सकती है, वफादारीके कारण हो सकती है, प्रेमके कारण हो सकती है, आदरबुद्धिसे हो सकती है, भक्तिसे हो सकती है, आत्मनिवेदन-वृत्तिसे हो सकती है या स्वस्वरूपानुसंधानके कारण भी हो सकती है। अिस तरह देखा जाय तो गायकी पूजा करनेमें अेकेश्वरवादी या अनीश्वरवादीको भी कोअी आपत्ति नहीं होनी चाहिये। निरीश्वरवादी आँगस्टस काण्ट क्या मानवजातिकी स्त्री प्रतिमा बनाकर अुसकी पूजा नहीं करता था ?

श्रावण महीनेमें बहुत-सी गायें बियाती हैं। घरकी छोटी-छोटी लड़कियाँ अगर कृतज्ञताके साथ गायोंकी और अधर-अधर उछलने-कूदने व चरनेवाले छोटे-छोटे बछड़ोंकी हल्दी और रोलीसे पूजा करें, तो कितनी प्रेम-वृत्ति जाग्रत होगी !

कन्याशालाओंमें अनेक तरहसे कृष्ण-जयन्ती मनाअी जा

सकेगी। घरके अन्दरकी जमीन अच्छी तरह लीपकर सफेद पत्थरकी बुकनीसे और अवीर आदिसे चौक पूरनेकी प्रतियोगिता रखी जा सकेगी। लड़कियाँ गीत गायेँ, रास खेलें, कृष्ण-जीवन-के भिन्न-भिन्न प्रसंगोंका गद्य और पद्यमें वर्णन करें, घरसे कलेवा लाकर सब मिलाकर खायें। उस दिन स्कूलकी लड़कियोंको अपनी सहेलियोंको भी साथ ले आनेकी विज्ञापित हो, तो अधिक आनन्द आयागा और अधिक लड़कियाँ शिक्षाकी ओर आकर्षित होंगी। धार्मिक शिक्षाको यदि प्रभावकारी बनाना है, तो हर त्योहारके अवसरपर स्कूलको मन्दिरका स्वरूप दे देना चाहिये। यदि हम मूर्ति-पूजासे न डर गये हों, तो जन्माष्टमीके दिन स्कूलमें हिङ्गला बँधवाकर लोरियाँ गायेँ। इसमें लड़कियोंकी माताओं भी अवश्य भाग लेंगी।

आजकी कन्याशालाओं अभीतक समाजका एक अंग नहीं बनी हैं, अन्होंने समाजमें अभी तक जड़ नहीं पकड़ी है, और विधिलिये अिन स्कूलोंको चलानेवाले अुत्साही देशसेवकोंका आधेसे ज्यादा परिश्रम बेकार जाता है। जन्माष्टमी जैसे त्योहार मनानेमें यदि समाजकी सभी स्त्रियाँ भाग लेने लग जायें, तो देखते-देखते शिक्षा सफल हो जायग; शिक्षाका लाभ केवल स्कूलमें पढ़नेवाली लड़कियोंको ही नहीं, बल्कि सारे समाजको मिलेगा, और हम शिक्षाका जो पवित्र कार्य कर रहे हैं, उसपर भी श्रीकृष्ण परमात्माकी अमृत-दृष्टि बरसेगी।

३८-८-२३

४

नवरात्रि

महिषासुर साम्राज्यवादी था। सूर्य, अिन्द्र, अग्नि, वायु, चन्द्र, यम, वरुण आदि सभी देवताओंके अधिकार और महकमे

वह स्वयं ही चलता था। स्वर्गके देवोंको असुरने भूलोकको प्रजा बना दिया था। किसीको भी अपने स्थानपर सुरक्षितताका अनुभव नहीं होता था। देव परमात्माके पास गये। परमात्माने सृष्टिकी जो व्यवस्था कर रखी थी, उसे महिषासुरने कितना बिगाड़ डाला है, इस बारेमें उन्होंने भगवान्‌को सब-कुछ कह सुनाया। सब हाल सुनकर विष्णु, ब्रह्मा, शंकर आदि सब देवोंके शरीरोंसे पुण्यप्रकोप जाग उठा और असुरसे ओक दैवी शक्ति-मूर्ति उत्पन्न हुआ। सब देवोंने इस सर्वदेवमयी शक्तिको अपने-अपने आयुधोंकी शक्तिसे मँडित (लैस) किया, और फिर इस दैवी शक्ति और महिषासुरकी आसुरी शक्तिमें भीषण युद्ध ठन गया। कौन कह सकता है कि वह युद्ध कितने सालों तक चला? लेकिन ऐसा माना जाता है कि कुआर महीनेकी शुक्ला प्रतिपदा से लेकर दशमीतक यह युद्ध चलता रहा, और असुरके अनुसा- दैवी शक्तिकी विजयका नवरात्रिअुत्सव हम मनाते हैं।

दैवी शक्ति परमा विद्या है; ब्रह्मविद्या है; आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व, और शिवतत्त्वका शुद्ध रूप है। यह शक्ति 'शठं प्रति शुभं करी' है; 'अहितेषु साध्वी' है; दुश्मनके साथ भी वह दया प्रकट करती है। दुष्ट लोगोंके बुरे स्वभावको शान्त करना ही इस दैवी शक्तिका शील है। 'दुर्वृत्तवृत्तशमनं तव देवि ! शीलम्'

असुर लोग इस शक्तिको न समझ सके। भक्त लोग जब दैवी शक्तिकी जय बोलने लगे, तो असुर परेशान होकर चिल्ला उठे, "अरे यह क्या? अरे यह क्या?" आखिर असुरोंका राजा स्वयं ही लड़ने लगा। असुरने अनेक तरहकी नीतियाँ आजमाकर देखीं, अनेक रूप धारण किये, लेकिन अन्तमें 'निःशेष-देवगण-शक्ति समूहमूर्ति' की ही विजय हुआ। वायु अनुकूल बहने लगी; वर्षाने भूमिको सुजला सफला कर दिया, दिशाओं प्रसन्न हुआँ

और भक्तगण देवीका मंगल गाने लगे। देवीने भक्तोंको आश्वासन दिया कि, 'अिसी तरह फिर जब-जब आसुरी लोगोंके कारण आतंक फैल जायगा, तब-तब मैं स्वयं अवतार धारण करके दुष्टताका नाश करूँगी।'।

यह महिषासुर प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें अपना साम्राज्य प्रस्थापित करनेकी भरसक कोशिश करता है, और अस-अस समय असके सब स्वरूपोंको पहचानकर असका समूल नाश करनेका कार्य दैवी शक्तिको करना पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने अंतःकरणकी जाँच-परख करनेपर यह जान सकता है कि असके हृदयमें यह युद्ध कितने सालों तक चलता रहा है। नव-रात्रिके दिनोंमें अपने हृदयमें दीपको अखंडरूपसे प्रज्वलित रख कर हमें दैवी शक्तिकी आराधना करनी चाहिये; क्योंकि जब यह दैवी शक्ति प्रसन्न होता है, तो वही हमें मोक्ष प्रदान करती है।

सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये ।

२८-६-२२

५

विजयादशमी

आगरेमें मुगलकालकी जो अिमारतें हैं, अूनमें ओक विशेषता यह है कि अूनके निचले खंड लाल पत्थरके हैं और अपूरवाले सफेद पत्थरके। लाल पत्थरका काम जहांगीरके समयका है और सफेद पत्थरका शाहजहांके समयका। हर अिमारतमें अिस तरह का कालक्रमका अितिहास वर्णभेदसे मूर्तिमान दिखाओ देता है।

किसी भी पुराने बड़े शहरमें पुरानी बस्ती और नअरी बस्ती-अेक दूसरेसे सटी हुआ नजर आती है; या बस्तियोंकी तहों पर तहें जमी हुआ दिखायी देती हैं। भाषाकी कहावतोंमें भी भिन्न-भिन्न समयका इतिहास समाया हुआ होता है। हम घरमें जमीनपर गच करनेके लिये जो पत्थर बिछाते हैं, वे ऐसे मालूम पड़ते हैं, गोया वह समूचा अेरु ही पत्थर हो; मगर अुनमें भी प्रत्येक स्तर-में कअरी बरसोंका अन्तर होता है। नदीके किनारे हर साल जो कीचड़ भी तहों पर तहें जम जाती हैं, अन्तमें अुनहींसे धरतीकी भट्टीमें अेक पत्थर बन जाता है।

दशहरेका त्योहार भी अेक ही त्योहार होते हुए अे भिन्न कालके भिन्न-भिन्न स्तरोंका बना हुआ है। दशहरेके त्योहारके साथ असंख्य युगोंके असंख्य प्रकारके आर्य पुरुषार्थोंकी विजय जुड़ी हुआ है।

मनुष्य-मनुष्यका संवर्ष जितना महत्त्वका है, अतना ही या अससे भी अधिक महत्त्वका संवर्ष मनुष्य और प्रकृतिके बीचका है। मानवको प्रकृतिपर जो सबसे बड़ी विजय मिली है, वह है खेती। जिस दिन जुती हुआ जमीनमें नौ प्रकारका अनाज बोकर कृत्रिम जलका सिंचन करके असमेंसे अपनी अजीविका तथा भविष्यके संग्रहके लिये पर्याप्त अनाज मनुष्य प्राप्त कर सका, वह दिन मनुष्यके लिये सबसे बड़ी विजयका था; क्योंकि अस के बाद ही स्थिरतामूलक संस्कृतिका जन्म हुआ। अस दिनकी स्मृतिको हमेशा ताजा रखना कृषि परायण आर्य लोगोंका प्रथम कर्त्तव्य था।

बीसवीं सदी भौतिक तथा यांत्रिक आविष्कारोंकी सदी समझी जाती है, और वह उचित भी है। लेकिन मानवजातिके अस्तित्व और संस्कृतिके लिये जो महान् आविष्कार कारणरूप हुए हैं, वे सब आद्ययुगमें ही हुए हैं। जमीनको जोतनेकी कला, सूत

कातनेकी कला, आग जलानेकी कला और मिट्टीसे पक्का घड़ा बनानेकी कला—ये चार कलाओं मानो मानवी संस्कृतिके आधार-स्तंभ हैं। अिन चारों कलाओंका अुपयोग करके विजयादशमीके दिन हमने कृषिमहोत्सवका निर्माण किया है।

अपने बचपनमें देखे हुआ पहले नवरात्रिके अुत्सवकी याद मुझे आज भी बनी हुआ है। मेरे भाअी प्रतिपदाके दिन शहरके बाहर जाकर खेतोंसे अच्छा-से-अच्छी साफ़ काली मिट्टी ले आये। मैं स्वयं नौ अनाजोंकी फ़ेहरिस्त बनाकर अुनमेंसे जो अनाज हमारे घरमें न मिले, अुन्हें अपने नानाके यहांसे ले आया। मेरी दादीने छोटी-सी धुनकीसे रूअी धुनकर अुसकी ६६ अंगुल लम्बी बत्ती बनाअी। मेरी माँने सूत कातकर (चरखेपर नहीं बल्कि लोटेपर) अुस सूतकी अेक हज्जार छंटी-छोटी बातियां बनाअी। मैं बाअारसे नारियल तथा पंचरत्न ले आया। पंचरत्नमें सोना, मोती, हीरा, प्रवाल, और नीलम या माणिक थे। अिन पंचरत्नोंके टुकड़े बहुत ही छोटे थे। मेरी भतीजी बगीचेसे फूल और तरह-तरहके पत्ते लाअी। पिताजने स्नान करके देवगृहमें गायके गोबरसे लिपी हुआ भूमिपर अुस काली मिट्टीको फैलाकर अुससे अेक सुन्दर चौक बनाया। यह हुआ हमारा खेत। अुसके बीचोंबीच अेक लोटा रख दिया। अुस लोटेमें पानी भरा हुआ था। अुसके अन्दर अेक साबुत सुपारी, दक्षिणा, पंचरत्न आदि चीअे डालीगअी थीं। अुपर आमके पेड़की अेक पाँच पत्तोंवाली छोटी-सी टहनी रखकर अुसपर अेक नारियल रखा था। सुन्दर आकारके लोटेमेंसे बाहर निकले हुआ आमके हरे-हरे पाँच पत्ते और अुनपर शिखरके समान दिखाअी देनेवाले नारियलका आकार देखकर हम बेहद खुश हुआ। पूजाकी तैयारी हुआ, चौकियाखेतमें नौ अनाज बोये गये। अुनपर पानी छिड़का गया।

बीचमें रखे हुआ घट (लोटे) की चन्दन, केसर और कुंकुमसे पूजा की गयी। यथाविधि सांग षोडशोपचार पूजा हुआ। ६६ अंगुल लम्बी बत्तीवाला दीपक जलाया गया। फिर आरती हुआ और घरमें सब कहने लगे कि आज हमारे यहाँ नवरात्रिकी घटस्थापना हुआ है। उस नन्दादीपको नौ दिन तक अखंड जलता रखना था। उसका बीचमें बुझ जाना, महा अशुभ माना जाता था। दूसरे दिन पूजामें अंकके बदले दो मालाओं लटकायी गयीं; तीसरे दिन तीन; चौथे दिन चार—अस तरह मालाओं बढ़ती गयीं। अपूर मालाओं बढ़ीं और नीचेके खेतमें अंकुर फूट निकले। कभी अंकुर तो अपने दलोंके छाते बनाकर ही बाहर निकल आये थे। हमें हर रोज मिष्ठान्न मिलता था; लेकिन पिताजी तो सिर्फ अंक ही समय भोजन करते और सारा दिन पीताम्बर पहनकर उस नन्दादीपकी देखभाल करते। बत्ती न टूटे, तेल कम न पड़े, और दीया बुझने न पाये—अस बातकी बड़ी फिकर रखनी पड़ती थी। रातको भी दो चार बार अठकर तेल डालना, अपूर जमी हुआ कालिखको बड़ी सावधानीसे झटकना, आदि काम अनको करने पड़ते थे।

जब नौ अनाजोंके अंकुर पूरी तरह फूट निकले, तो उस समयकी खेतकी शोभा बहुत अविर्णीय थी। कुछ अनाज जल्दी अगे, कुछ देरीसे। मैं यह अच्छी तरह याद रखता कि कौनसे अनाज पहले अगे हैं, और कौनसे बादमें। सभी अंकुर बिलकुल सफेद थे; क्योंकि नवरात्रिका यह 'खेत' घरके अन्दर था, और सूर्यके प्रकाशके बिना हरा रंग तो आ नहीं सकता। फिर पिताजी खेतपर हल्दीका पानी छिड़कने लगे। मैंने पूछा—“यह किसलिये?” जवाब मिला—“असलिये कि अगा हुआ अनाज सोनेके समान दिखाई दे!”

सातवें दिन सरस्वतीका आवाहन हुआ। घरमें जितनी

धार्मिक और संस्कृतकी किताबें और पोथियाँ थीं, उन सबको ओक रंगीन पटेपर रखकर हमने उनकी पूजा की। हमें पढ़ाओसे छुट्टी मिल गयी। उसे अनध्याय कहते हैं। सरस्वतीका आवाहन, पूजन और विसर्जन तीन दिनमें हुआ। नवें दिन 'खंड' पूजन हुआ। 'खंड' पूजन यानी शस्त्रास्त्रोंका पूजन। उस दिन हाथी घोड़ों जैसे युद्धोपयोगी जानवरोंकी भी पूजा की जाती है। उस तरह नवरात्र पूरा हुआ और दसवें दिन दशहरा आया दशहरेके दिन होम, बलिदान और सीमोल्लंघन, ये तीन प्रमुख विधियाँ थीं। वह विचारंभका भी दिन था।

विजयादशमीके त्योहारमें चातुर्वर्ण्य ओकत्र हुआ दीखता है। ब्राह्मणोंके सरस्वती पूजन तथा विचारंभ; क्षत्रियोंके शस्त्र-पूजन, अश्वपूजन तथा सीमोल्लंघन और वैश्योंकी खेती ये तीनों बातें उस त्योहारमें ओकत्रित होती हैं। और जहाँ अतिनीबड़ी प्रवृत्ति चलती हो; वहाँ शूद्रोंको परिचर्या तो समाविष्ट है ही। जब देहती लोग नवरात्रिके अनाजकी सोने-जैसी पीली-पीली कोंपलें तोड़कर अपनी पगड़ियोंमें खांसते हैं, और बढ़िया पोशाक पहनकर गाते-बजाते सीमोल्लंघन करने जाते हैं, तब ऐसा दृश्य आँखोंके सामने आ खड़ा होता है मानो सारे देशका पौरुष अपना पराक्रम दिखलानेके लिये बाहर निकल पड़ा हो।

दशहरेका अुत्सव जिस तरह कृषिप्रधान है, उसी तरह वह क्षात्रमहोत्सव भी है। जिन दिनों भाड़ेके सिपाहियोंको मुर्गेकी तरह लड़ानेका तरीका प्रचलित नहीं था, उन दिनों क्षात्र-तेज तथा राजतेज किमानोंमें ही परवरिश पाते थे। किसान यानी क्षेत्रपति-क्षत्रिय ! जो सालभर भूमि माताकी सेवा करता हो, वही मौका आनेपर उसकी रक्षाके लिये निकल पड़ेगा। नदियों, नालों, टेकरियों और पहाड़ोंके साथ जिसका रात-दिनका सम्बन्ध रहता है; घोड़ा, बैल-जैसे जानवरोंको जो अनुशासन

सिखा सकता है और सारे समाजको जो खाना खिलाता है, उसमें सेनापति और राजत्वके सब गुण आ जायँ, तो आश्चर्य की क्या बात है ? राजा ही किसान है और किसान ही राजा है ।

औसी हालतमें कृषिका त्योहार क्षात्र-त्योहार बन गया । जिसमें पूरी तरह औतिहासिक औचित्य है । क्षत्रियोंका प्रधान कर्तव्य तो स्वदेश-रक्षा ही है । परन्तु बहुत बार, शत्रुके स्वदेशमें घुसकर देशको बरबाद करनेसे पहले ही उसके दुष्ट हेतुको पहचानकर स्वयं—सीमोल्लंघन करना—अपनी सीमा यानी सरहदको लाँघना और खुद शत्रुके मुल्कमें लड़ाई ले जाना, होशियारीकी और वीरोचित बात मानी जाती है ।

थोड़ा-सा सोचनेपर मालूम होगा कि जिस सीमोल्लंघनके पीछे साम्राज्यवृत्ति है । अपनी सरहद लाँघकर दूसरे देशपर अधिकार जमाना और वहाँसे धन-धान्य लूट लाना, जिसमें आत्म-रक्षाकी अपेक्षा महत्त्वाकांक्षाका ही अंश अधिक है । जिस तरह लूटकर लाया हुआ सोना अगर पराक्रमी पुरुष अपने ही पास रखे, तो वर्तमान युगके क्षत्रप्रकोप (Militarism) के साथ विट्प्रकोप (Industrialism) के मिल जानेकी भयानक स्थिति पैदा होगी ।^१ जहाँ प्रभुत्व और धनिकत्व अकेले आ जाते

^१ 'क्षत्रप्रकोप' तथा 'विट्प्रकोप' अर्थात् दो नये नामोंकी सार्थकता मुझे सिद्ध करनी चाहिये । चातुर्वर्ण्यका सन्तुलन या सामंजस्य तो समाज-शरीरकी स्वाभाविक स्थिति है । समाजके लिये अर्थात् चारों वर्णोंकी आवश्यकताको स्वीकार कर लिया गया है । जिस तरह, जब व्यक्तिके शरीरमें वात, पित्त, और कफ ये तीन धातु अचित अनुपातमें रहते हैं तभी शरीर नीरोगी रहता है, उसी तरह समाज-शरीरमें चातुर्वर्ण्य अचित अनुपातमें होना चाहिये । शरीरमें पित्तकी मात्रा बढ़ जाती है, तो उसे पित्तप्रकोप कहते हैं । पित्तप्रकोपसे सारा शरीर खराब हो-जाता है । यही

हैं, वहाँ शैतानको अलग न्योता देनेकी जरूरत नहीं रहती। इसीलिये दशहरेके दिन लूटकर लाये हुअे सोनेको सब रिश्ते-दारोंमें वितरित करना अस दिनकी अेक महत्त्वकी धार्मिक विधि तय की गअी है।

सुवर्ण-वितरणकी अस प्रथाका संबंध रघुवंशके राजा रघुके साथ जोड़ा गया है।

रघुराजाने विश्वजित् यज्ञ किया। समुद्रवल्यांकित पृथ्वीको जीतनेके बाद सर्वस्वका दान कर डालना विश्वजित् यज्ञ कहलाता है। जब रघुराजाने अस तरहका विश्वजित् यज्ञ पूरा किया, तब असके पास वरतन्तु ऋषिका 'विद्वान् और तेजस्वी शिष्य कौत्स जा पहुंचा। कौत्सने गुरुसे चौदहों विद्याओं ग्रहण की थीं; असकी दक्षिणाके तौरपर चौदह करोड़ सुवर्ण मुद्राओं गुरुको प्रदान करनेकी असकी अिच्छा थी। लेकिन सर्वस्वका दान करनेके बाद बचे हुअे मिट्टीके बर्तनोंसे ही राजाको आदरातिथ्य करते देख कौत्सने राजासे कुछ भी न माँगनेका निश्चय किया। राजाको आशीर्वाद देकर वह जाने लगा। रघुने बड़े आग्रहके साथ उसे रोक रखा, और दूसरे दिन स्वर्गपर धावा बोलकर अिन्द्र और कुबेरके पाससे धन लानेका प्रबन्ध किया। रघुराजा चक्रवर्ती था। अतः अिन्द्र और कुबेर भी असके माण्डलिक थे। ब्राह्मणको दान देनेके लिये उनसे कर लेनेमें संकोच किस

हाजत वातप्रकोप और कफप्रकोपके विषयमें है। समाज-शरीरमें क्षात्र-वर्गका अतिरेक या प्राबल्य हो जाय, तो अस स्थितिको क्षात्रप्रकोप कहना ही अुचित है। यही बात विट्प्रकोप या वैश्यप्रकोपकी भी है। शरीरका नाश होनेका समय ग्रानेपर तीनों धातुओंका प्रकोप हो जाता है। अिसे त्रिदोष कहते हैं। यूरपमें आज क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अिन तीनों वर्णोंका अेक साथ प्रकोप हुआ है, अैसा साक्र-साक्र नज़र आ रहा है, और वहाँके आह्वण अिन तीनों वर्णोंके किंकर बन गये हैं।

बातका था ? रघुराजाकी चढ़ाओकी बात सुनकर देवता लोग डर गये। ओन्होंने शर्माके ओक पेड़पर सुवर्णमुद्राओकी वृष्टि की। रघुराजाने सुबह ओठकर देखा तो जितना चाहिये ओतना सुवर्ण आ गया था। ओसने कौत्सको वह ढेर दे दिया। कौत्स चौदह करोड़से ज्यादा मुद्रा लेता न था और राजा दानमें दिया हुआ धन वापस लेनेको तैयार न था। आखिर ओसने वह धन नगर-वासियोंको लुटा दिया। वह दिन आश्विन शुक्ला दशमीका था; ओसीलिये आज भी दशहरेके दिन शमीका पूजन करके लोग ओसके पत्ते सोना समझकर लूटते हैं और ओक दूसरेको देते हैं। कुछ लोग तो शमीके नीचेकी मिट्टीको भी सुवर्ण समझ कर ले जाते हैं।

शमीका पूजन प्राचीन है। ओसा माना जाता है कि शमीके पेड़में ओषधियोंका तपस्तेज है। पुराने जमानेमें शर्माकी लकड़ियोंको आपसमें घिसकर लोग आग सुलगाते थे। शर्माकी समिधा आहुतिके काम आती है। पाण्डव जब अज्ञातवास करने गये थे, तब ओन्होंने अपने हथियार शमीके ओक पेड़पर झिपा रखे थे; और वहां ओओ जाने न पाये, ओसके लिये ओन्होंने ओम पेड़के तनेसे ओक नर कंकाल बाँध रखा था।

रामचन्द्रजीने रावणपर जो चढ़ाओ की, सो भी विजया-दशमीके मुहूर्त्तपर। आर्य लोगोंने—हिन्दुओने अनेक बार विजयादशमाके मुहूर्त्तपर ही धावे बोलकर विजय प्राप्त की है। ओससे विजयादशमी राष्ट्रीय विजयका मुहूर्त्त या त्योहार बन गया है। मराठे और राजपूत ओसी मुहूर्त्तपर स्वराज्यकी सीमाको बढ़ानेके हेतु शत्रु-प्रदेशपर आक्रमण करते थे। शस्त्रास्त्र से सजकर और हाथी-घाड़ोंपर चढ़कर नगरके बाहर जलूस ले जानेका रिवाज आज भी है। वहाँ शमीका और अपराजिता देवोका

पूजन सीमोल्लंघनका प्रमुख भाग है।^१

ऐसा माना जाता है कि शमी और अश्मंतक वृक्षमें भी शत्रुका नाश करनेका गुण है। अस्तुरेके पेड़को अश्मन्तक कहते हैं। जहाँ शमी नहीं मिलती वहाँ अस्तुरेके पेड़की पूजा होती है। अस्तुरेके पत्तेका आकार सोनेके सिक्के की तरह गोल होता है, और जुड़े हुए जवाबी कार्ड (Reply Card) की तरह अस्के पत्ते मुड़े हुए होते हैं, जिसमें वे ज्यादा खूबसूरत दिखायी देते हैं।

दशहरेके दिन चौमासा लगभग खत्म हो जाता है। शिवाजीके किसान-वैनिक दशहरे तक खेतीकी चिन्तासे मुक्त हो जाते थे। कुछ काम बाकी न रहता था। सिर्फ फसल काटना ही बाकी रह जाता था। पर अमुमे तो घरकी औरतें, बच्चे और बूढ़े लोग कर सकते थे। अमुमे सेना अिकड़ी करके स्वराज्यकी सीमाको बढ़ानेके लिये सवम नजदीक मुहूर्त दशहरेका हो था। अिसी कारण महाराष्ट्रमें दशहरेका त्योहार बहुतही लोकप्रिय था और आजभी है।

हम यह देख सके हैं कि विजयादशमीके अेक त्योहारपर अनेक संस्कारों, अनेक संस्करणों और अनेक विश्वासोंकी तहें चढ़ी हुआ है। कृपि-महोत्सव छात्र-महोत्सव बन गया; सीमोल्लंघनका परिणाम दिग्विजय तक पहुँचा; स्व-संरक्षणके साथ सामाजिक प्रेम और धनका विभाग करनेकी प्रवृत्तिका सम्बन्ध दशहरेके साथ जुड़ा। लेकिन अेक अैतिहासिक घटनाको दशहरेके साथ जोड़ना अभी हम भूल गये हैं, जोकि अिस जमानेमें अधिक महत्त्वपूर्ण है। “दिग्विजयसे धर्मजय श्रेष्ठ है। बाह्य शत्रुका

^१ महिषासुर नामके अेक प्रबल दैत्यने बड़ा आतंक फैलाया था। जगदंबाने नौ दिन तक अुससे युद्ध करके विजयादशमीके दिन अुसका वध किया था। अिस आशयका अेक कहानी पुराणोंमें मिलती है। अिसीलिये अपराजिताका पूजन करने और महिष यानी भैसेकी बलि चढ़ानेका रिवाज पड़ा है।

वध करनेकी अपेक्षा हृदयस्थ षड्रिपुओंको मारनेमें ही महान् पुरुषार्थ है। नवधान्यकी फसल काटनेकी बनिस्बत पुण्यकी फसल काटना अधिक चिरस्थायी होता है।” सारे संसारको ऐसा अपदेश देनेवाले मारजित्, लोकजित्, भगवान् बुद्धका जन्म विजयादशमीके शुभ मुहूर्त्तपर ही हुआ था। विजयादशमीके दिन बुद्ध भगवान्का जन्म हुआ, और वैशाखी पूर्णिमाके दिन अन्हें चार शान्तिदाया अर्यतन्त्रोंका और अष्टांगिक मार्गका बोध हुआ, यह बात हम भूल ही गये हैं। विष्णु या वर्तमान अवतार बुद्ध अवतार ही हैं। असलिये विजयादशमीका त्योहार हमें भगवान् बुद्धके मार-विजयका स्मरण करके ही मनाना चाहिये।

अक्तूबर, १९२१

६

दीवाली

(१)

बलि राजाने दानका व्रत लिया था। जो याचक जो वस्तु माँगता, राजा उसे वह वस्तु दे देता। बलिके राज्यमें जीव-हिंसा, मद्यपान, अगम्यागमन चोरा और विश्वासघात—अनि पाँच महापापोंका कहीं नामतक न था। सर्वत्र दया, दान और श्रुत्सवका बोलबाला रहता था। अन्तमें बलिराजाने वामन-मूर्ति श्रीकृष्णको अपना सर्वस्व अर्पण किया। बलिकी अिस दानवीरताके स्मारकके रूपमें श्रीविष्णुने बलिके नामसे तीन दिन-रातका त्योहार निश्चित किया। यही हमारी दीवाली है। बलिके राज्यमें आलस्य, मलिनता, रोग और दारिद्र्यका अभाव था। बलिके राज्यमें या लोगोंके हृदयमें अंधकार न था। सभी प्रेमसे रहते थे। द्वेष, मत्सर या असूयाका कारण ही न था। बलिका राज्य जन साधारणके लिये अितना लोकोपकारी था कि अुसके कारण प्रत्यक्ष श्रीविष्णु अुसके द्वारपाल बनकर रहे। अिसी कारण

यह निश्चय किया गया कि बलिराजाके स्मारकस्वरूप अिस त्योहारसे पहले लोग कूड़ा-कचरा, कीचड़ और गंदगीका नाश करें, जहाँ-जहाँ अँधेरा हो वहाँ दीपावलिकी शोभा करें, लोगोंके प्राण लेनेवाले यमराजका तर्पण करें, पूर्वजोंका स्मरण करें, मिष्ठान्न भक्षण करें और सुगन्धित धूप-दीप तथा पुष्प-पत्रोंसे सुन्दरता बढ़ावें। अिन दिनों सायंकालकी शोभा अितनी मनो-हारी होती है कि यक्ष, गंधर्व, किन्नर, औषधि, पिशाच, मंत्र और मणि सभी अत्सवका नृत्य करते हैं। बलि-राज्यका स्मरण करके लोग तरह-तरहके रंगोंसे चौक पूरने हैं; सफेद चावल लगाकर भाँति-भाँतिके सुन्दर चित्र बनाते हैं; गाय, बैल आदि गृह-पशुओंको सजा-धजाकर अूनका जुलूम निकालते हैं; श्रेष्ठ और कनिष्ठ सब मिलकर यष्टिकाकर्षणका खेल खेलते हैं। यष्टिका-कर्षण युरोपीय लोगोंके रस्सी खींचनेके 'टग ऑफ वॉर'—जैसा अेक खेल है। अिमीको हमने 'गजग्राह' का नया नाम दिया है। पुराने जमानेमें राजा लोग दीवालीके दिन अपनी राजधानीके सभी लड़कोंको सार्वजनिक रूपसे आमंत्रण देते थे और अूनसे खेल खेलते थे।

सुगन्धित द्रव्योंकी मालिश करके नहाना, तरह-तरहके दाने क्रतारमें जलाना और अिष्ट-मित्रोंके साथ मिष्ठान्नका भोजन करना दीवालीका प्रधान कार्यक्रम है। बलिके राज्यमें प्रवेश करना हो तो द्वेष, मत्सर, असूया, अपमान आदि सब भूलकर सबके साथ अेकदिल हो जाना और अिस तरह निष्पाप हीकर नये वर्षमें प्रवेश करना हमारा प्राचीन रिवाज है।

अिसी दिन सत्यभामाने श्रीकृष्णकी मददसे नरकासुरका नाश करके सोलह हजार राजकन्याओंको मुक्त किया था।

दीपावलिके अुत्सवमें स्त्रियोंकी अपेक्षा नहीं की गयी है। स्त्री-पुरुषोंके सब सम्बन्धोंमें भात्री-बहनका संबंध शुद्ध सात्विक

प्रेम और समानताके अल्लासका होता है । पति-पत्नीका या माता-पुत्रका सम्बन्ध अितना व्यापक और अितना सात्विक अल्लासयुक्त नहीं होता ।

धन-तेरससे लेकर भात्री दूज तकके पाँचों दिनोंके साथ यम-राजका नाम जुड़ा हुआ है । भला, असका अद्देश्य क्या होगा ?

अिन्द्रप्रस्थका राजा हंस मृगयाके लिये घूम रहा था । हैम नामक अेक छोटेसे राजाने अ्रमका आतिथ्य किया । अ्रसीदिन हैमके यहाँ पुत्रोत्सव था । राजा आनन्दोत्सव मना ही रहा था कि अ्रतनेमें भवितव्यताने आकर कहा कि विवाहके बाद चौथे ही दिन यह पुत्र सर्प-दंशसे मर जायगा । हंस राजाने अ्रम पुत्रको बचानेका निश्चय किया । अ्रमने यमुना नदीके दहमें अेक सुरक्षित घर बनवाकर हैमराजाको वहाँ आकर रहनेका निमंत्रण दिया । सोलह साल बाद राजपुत्रका विवाह हुआ । विवाहसे ठीक चौथे ही दिन अ्रस दुर्गम स्थानमें भी सर्प प्रकट हुआ और राजपुत्र मर गया । आनन्दकी बड़ी अपार शोकमय बन गयी । क्रूर यमदूतोंको भी अस करुण अवसरपर दया आयी, और अन्होंने यमराजसे यह वर माँग लिया कि दीवालीके पाँच दिनोंमें जो लोग दीपोत्सव मनायें, अ्रनपर अस तरहकी आपत्ति न आवे ।

यह तो हुआ धनतेरसकी कहानी । नरक-चतुर्दशीके दिन तो यमराजका और भीष्मका तर्पण विशेषरूपसे कहा गया है । दीवाली तो अ्रमावस्याका दिन । अ्रम दिन यमलोकवासी पितरोंका पूजन और पार्वण श्राद्ध तो करना ही पड़ता है । प्रतिपदाके दिन यम-राजसे सम्बन्ध रखनेवाली कोअी कथा नहीं कही गयी है; लेकिन अ्रसा मान लेनेमें कोअी हर्ज नहीं कि यमराज भी अ्रस दिन अपना नया बहीखाता खोलते होंगे । भैया दूजके दिन यमराज अपनी बहन यमुनाके घर भोजन करने जाते हैं । दीवालीकी स्वच्छन्दताके

साथ यमराजका स्मरण रखने में अन्धकारों के अदेश्य चाहे जो रहा हो, लेकिन अिसमें शक नहीं कि अिसका अमर बहुत अच्छा होता होगा। जिम्ने अुत्सवमें भी मंयमका पालन किया होगा, वही यमराजके पाशसे मुक्त रह सकेगा।

नवम्बर, १९२१

(२)

दीवानवानेमें ओकाध सुन्दर चीज रखनेका रिवाज प्रत्येक घरमें होता है। बाहरका कोअी व्यक्ति आता है, तो सहज हो असकी नजर अम तरफ जाती है और वह पूछ बैठता है—‘वाह! कैमी बढ़िया चीज है! यह आपको कहाँ से मिली?’ लेकिन अजायब-घरमें तो जहाँ देखिये वहाँ सुन्दर-ही-सुन्दर चीजें दिखाअी देती हैं। अन्हें देखकर मनुष्य बहुत खुश होता है। लेकिन साथ ही वह अुतना ही पसंपेशमें भी पड़ जाता है। वह अिसी सोचमें रहता है कि क्या देखूँ और क्या न देखूँ?

हमारी दीवाली त्योहारोंका ओक ओसा ही अजायब-घर है। अिसे सब त्योहारोंका स्नेह-सम्मेलन भी माना जा सकता है। दीवालीका त्योहार पाँच दिनोंका माना जाता है। लेकिन सब पूछिये तो ठेठ नवरात्रिके त्योहारमें अिसका प्रारंभ होता है, और भाअीडूजकी भेंटमें अिसका आनन्द अपनी परिसमा तक पहुंच जाता है।

शास्त्रोंमें प्रत्येक त्योहारोंका माहात्म्य और कथा दी गअी है। दीवालीके बारेमें अितनी कहानियाँ हैं कि यदि ‘दीवाली माहात्म्य’ लिखा जाय, तो वह ओक बड़ा पोथा बन जायगा। धनतेरसकी कथा अलग, नरक चौदसकी कहानी अलग, और अमावस (दीवाली) की अपनी ओक कहानी अलग। अिसके बाद नया साल शुरू होता है। और दूजके दिन बहनके घर भाअी अतिथि बनकर जाता है। दीवाली गृहस्थाश्रमी त्योहार है; जनताका

त्योहार है। श्रावणीके दिन धर्म और शास्त्र प्रधान होते हैं; दशहरेके दिन युद्ध और शस्त्र-प्रमुख रहते हैं, दीवालीके दिन लक्ष्मी और धनको प्राधान्य प्राप्त होता है और होली तो खेल और रंग-रागका त्योहार है। जिस तरह मनुष्योंमें चार वर्ण हैं, अुसी तरह त्योहारोंमें भी चार वर्ण हो गये हैं।

पुरातन कालमें लोग श्रावणीके दिन जहाजोंमें बैठकर समुद्र पार देश-देशान्तरमें सफ़र करने जाते थे। दशहरेके दिन राजा लोग और योद्धागण अपनी सरहदोंको पार करके शत्रुपर चढ़ाअी करने निकलते थे और दीवालीके दिन राजा लोग और व्यापारीगण स्वदेश वापस आकर कौटुम्बिक सुखका अुपभोग करते थे।

पुराणोंमें कथा है कि नरकासुर नामका अेक पराक्रमी राजा प्राग्ज्योतिषमें राज करता था। भूटानके दक्षिण तरफ़ जो प्रदेश है अुसे प्राग्ज्योतिष कहते थे। आज वह असम प्रान्तमें सम्मिलित है। नरकासुरका दूसरे राजाओंसे लड़ना तो घड़ीभरके लिये सहन कर लिया जा सकता था; किन्तु अुस दुष्टने स्त्रियोंको भी सताना शुरू किया। अुसके कारागारमें सोलह हजार राजकन्याओं थीं। श्रीकृष्णने विचार किया कि यह स्थिति हमारे लिये कलंकरूप है। अब तो नरकासुरका नाश करना ही होगा। सत्यभामाने कहा—“आप स्त्रियोंके अुद्धारके लिये जा रहे हैं, तो फिर मैं घर कैसे रह सकती हूँ? नरकासुरके साथ मैं ही लड़ूँगी। आप चाहे मेरी मददमें रहें!”

श्रीकृष्णने यह बात मान ली। अुस दिन रथमें सत्यभामा आगे बैठी थी और श्रीकृष्ण मददके लिये पीछेकी तरफ़ बैठे थे। चतुर्दशीके दिन नरकासुरका नाश हुआ। देश स्वच्छ हो गया। लोगोंने आनन्द मनाया। यह बतानेके लिये कि नरकासुरका बड़ा भारी जुल्म दूर हुआ, लोगोंने रातको दीपोत्सव मनाया और

अमावसकी रातमें भी पूर्णिमाकी शोभा दिखलात्री ।

लेकिन यह नरकासुर ओक बार मारनेसे मरनेवाला नहीं है। असे तो हर साल मारना पड़ता है। चौमासेमें सब जगह कीचड़ हो जाता है। असेमें पेड़के पत्ते, गोबर, कीड़े वगैरा पड़ जाते हैं, और अिस तरह गाँवके आस-पास नरक—गंदगी—फैल जाता है। वर्षाके बाद जब भादोंकी धूप पड़ती है, तो अिस नरककी दुर्गंध हवामें फैल जाती है, जिससे लोग बीमार पड़ते हैं। अिसलिये बहादुर लोगोंकी आरोग्य-संना कुदाली-फावड़ा वगैरा लेकर अिस नरकके साथ लड़ने जाय, गाँवके आस-पासके नरकका नाश करे, और घर आकर बदनपर तेल मलकर नहाये। गौशाला तो साफ़ की हुआी होती ही है; असेमेंसे मच्छरोंको निकाल देनेके लिये रात वहाँ दीया जलाये, धुआँ करे और फिर प्रसन्न होकर मिष्टान्न और पक्वान्नोंका भोजन करे ।



दीवालीके बाद नया वर्ष शुरू होता है, और घरमें नया अनाज आता है। हिन्दुओंके घरोंमें वेदकालसे लेकर आजतक अिस नवान्नकी विधिका श्रद्धापूर्वक पालन होता है। महाराष्ट्रमें अिस भोजनसे पहले ओक कड़ुअे फलका रस चखनेकी प्रथा है। अिसका अुद्देश्य यह होगा कि कड़ुअी मेहनत किये बिना मिष्टान्न नहीं मिल सकता। भगवद्गीतामें भी लिखा है कि आरंभमें जो जहरके समान है, और अन्तमें अमृतके समान, वही सात्त्विक सुख है। गोआमें दीवालीके दिन चिअुड़ेका मिष्टान्न बनाते हैं और जितने भी अिष्ट-मित्र हों, अुन सबको अुस दिन निमंत्रण देते हैं। अर्थात् प्रत्येक व्यक्तिको अपने प्रत्येक अिष्ट-मित्रके यहां जाना ही चाहिये। प्रत्येक घरमें फलाहार रखा रहता है, अुसमेंसे ओकाध टुकड़ा चखकर आदमी दूसरे घर जाता है। व्यवहारमें कटुता आयी हो, दुश्मनी बँधी हो, या जो भी कुछ हुआ हो,

दीवालीके दिन मनसे वह सब निकाल देते हैं, और नया प्रीति-सम्बन्ध जोड़ते हैं। जिस प्रकार व्यापारी दीवालीपर सब लेन-देन चुका देते हैं, और नये बहीखातोंमें बाकी नहीं खींचते, अमी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति नये वर्षके प्रारंभमें हृदयमें कुछ भी बैर या जहर बाकी नहीं रहने देता। जिस दिन बस्तीमेंसे नरक-गंदगी-निकल जाय, हृदयसे पाप निकल जाय, रात्रिमेंसे अन्धकार निकल जाय, हृदयसे और सिरपरसे कर्ज दूर हो जाय, अमुक दिनसे बढ़कर दूसरा पवित्र दिन कौनसा हो सकता है ?

३०-११-२१

(३)

जो सोलहों आने पकी है, जिसके बारेमें तनिक भी शक नहीं, ऐसी चीज जिन्दगीमें कौनसी है ? सिर्फ अंक; और वह है मृत्यु !

राजा हो या रंक, बूढ़ी कुन्ना हो या लावण्यवती अिन्दुमती, शेर हो या गाय, बाज्र हो या कबूतर, मृत्युकी भेंट तो हरअंकसे होने ही वाली है। अब सवाल यह है कि अिस निश्चित अतिथिका स्वागत हम किस तरह करें ?

हम जिस प्रकार अुसे पहचानते हों, अुसी प्रकार अुमका स्वागत करें। मृत्युका स्वरूप कटहल-जैसा है। अगर तो सब काँटे-ही-काँटे होने हैं; अन्दरका स्वाद न मालूम कैसा हो ! मृत्यु अर्थात् घड़ीभरका आराम; मृत्यु अर्थात् नाटकके दो अंकोके मध्यावकाशकी यवनिका; मृत्यु अर्थात् वाणीके अस्खलित प्रवाह-में आनेवाले विरामचिह्न। अंग्रेज कवि दूजक चाँदका स्वागत करते समय 'बालचन्द्रकी गोदमें वृद्ध चन्द्र' कहकर अुसका वर्णन करते हैं। अमावस तक पुराना चन्द्र सूब जाता है, क्षीण हो जाता है। अब वह अपने पैरोंपर कैसे खड़ा होगा ? अिसलिये अुससे पैदा हुआ बालचन्द्र अपनी बारीक भुजाओं फैलाकर अुस

बूढ़े काले चन्द्रको अठा लेता है, और दूसरे दिन पश्चिमके रंगमंच पर ले आता है, और यों सारी दुनिया द्वारा तालियाँ बजाकर किये जानेवाले स्वागतको स्वीकार करता है। मुसलमान लोग 'अदीका चाँद' कहकर अिसोका स्वागत करते हैं। मृत्यु तो पुनर्जन्मके लिये ही है। प्रत्येक नयी पीढ़ी पुरानी पीढ़ीका तेज लेकर जवानीके जोशमें आगे बढ़ती रहती है; और पुरानी पीढ़ी बुढ़ापेके परावलंबनको महसूस करती हुआ लुप्त हो जाती है। यह कैसे भुलाया जा सकता है कि बूढ़ा, ठूँठा, जाड़ा प्रफुल्ल नववसन्तको अँगली पकड़कर ले आता है? अिस बातको भुलानेसे काम न चलेगा कि हेमन्तकी काटनेवाली ठंडकमें ही वसन्तका प्रसव है।

दीवालीके दिन वसन्तकी अपेक्षासे, वसन्तकी मार्ग-प्रतीक्षासे अगर हम दीपोत्सव कर सकते हैं, मिष्टान्न भोजन कर सकते हैं, आनन्द और मंगलताका अनुभव कर सकते हैं, तो हम मृत्युसे क्यों न खुश हों?

दीवाली हमें सिखाती है कि मौतका रोना मत रोओ, मृत्युमें ही नवयौवन प्रदान करनेकी, नवजीवन देनेकी शक्ति है; दूसरोंमें नहीं।

दीवालीका त्यौहार मौतका अत्सव है, मृत्युका अभिनन्दन है, मृत्यु परकी श्रद्धा है। निराशासे अुत्पन्न होनेवाली आशाका स्वागत है।

रुद्र ही शिव है, मृत्युका दूसरा रूप ही जीवन है।

यह किसे अच्छा न लगेगा कि यमराज अपनी बहनके घर जायँ? मृत्यु नित्यनूतनताके घर अुत्सव मनाये?

मृत्यु अग्नि नहीं, बल्कि तेजस्वी रत्नमणि है, जिसे छूनेमें कोअी खतरा नहीं।

७

वसन्त पंचमी

वसन्त पंचमी अर्थात् ऋतुराजका स्वागत !

माघ शुक्ला पंचमीको हम वसन्त पंचमी कहते हैं, लेकिन प्रत्येक व्यक्तिके लिये उसी दिन वसन्त पंचमी नहीं होती। ठंडे खूनवाले मनुष्यके लिये वह अतनी जल्दी नहीं आती।

वसन्त पंचमी प्रकृति का यौवन है। जिसकी रहन-सहन प्रकृतिसे अलग न पड़ गयी हो, जो प्रकृति के रंगमें रंग गया हो, वह मनुष्य बिना कहे ही, वसन्त पंचमी का अनुभव करता है। नदी के क्षीण प्रवाहमें अकेला अकेला आया हुआ जोरकी बाढ़को जिस प्रकार हम अपनी आंखोंसे साफ देखते हैं, उसी प्रकार हम वसन्तको भी आता हुआ देख सकते हैं। अलबत्ता, वह अकेला ही समयपर सबके हृदयोंमें प्रवेश नहीं करता।

जब वसन्त आता है तो यौवनके अनुमादके साथ आता है। यौवनमें सुन्दरता होती है, लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें हमेशा क्षेम भी होता है। यौवनमें शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यकी रक्षा करना बहुत ही कठिन हो जाता है। यही हालत वसन्तमें भी होती है। तारुण्यकी तरह वसन्त भी मनमौजी और चंचल होता है। अनेक दिनों कभी जाड़ा मालूम होता है, कभी गरमी; कभी जो अबूने लगता है, तो कभी अल्लास मालूम होने लगता है। खोशी हुआ शक्तिको जाड़ेमें फिरसे प्राप्त किया जा सकता है। मगर जाड़ेमें प्राप्त की हुआ शक्तिको वसन्तमें संचित कर रखना आसान नहीं है। वसन्तमें संयमका पालन किया जाय, तो सारे वर्षके लिये आरोग्यकी रक्षा हो जाती है। वसन्तऋतुमें जीवमात्रपर अकेला चित्ताकर्षक कान्ति छा जाती है; पर वह अतनी ही खतरनाक भी होती है।

वसन्तके अल्लासमें संयमकी भाषा शोभा नहीं देती; सहन भी नहीं होती; परन्तु अिसी समय असकी अत्यन्त आवश्यकता होती है। अगर क्षीण मनुष्य पथ्यसे रहे, तो असमें कौन आश्चर्यकी बात है ? अससे लाभ भी क्या ? किसी तरह जीवित रहनेमें क्या स्वारस्य है ? सुरक्षित वसन्त ही जीवनका आनन्द है।

वसन्त अुड़ाअू होता है। असमें भी प्रकृतिका तारुण्य ही प्रकट होता है। कितने ही फूल और फल मुरझा जाते हैं। मानो प्रकृति जाड़ेकी कंजूसीका बदला ले रही हो। वसन्तकी समृद्धि कोअी शाश्वत समृद्धि नहीं। जितना कुछ दिखाअी देता है, अतना टिकता नहीं।

राष्ट्रका वसन्त भी अक्सर अुड़ाअू होता है। कितने ही फूल और फल बड़ी-बड़ी आशाअें दिखाते हैं; लेकिन परिपक्व होनेसे पहले ही मुरझाकर गिर पड़ते हैं। सच्चे वही हैं, जो शरदू ऋतु तक कायम रहते हैं। राष्ट्रके वसन्तमें संयमकी वाणी अप्रिय मालूम होती है, परन्तु वही पथ्यकर होती है।

अुत्सवमें विनय, समृद्धिमें स्थिरता, यौवनमें संयम--यही सफल जीवनका रहस्य है। फूलोंकी सार्थकता अिसी बातमें है कि अुनका दर्प फलके रसमें परिणत हो।

वसन्त पंचमीके अुत्सवकी सृष्टि न तो शास्त्रकारों द्वारा हुआ है, और न धर्माचार्योंने अुसे स्वीकार ही किया है। अुसे तो कवियों और गायकों, तरुणों और रसिकोंने जन्म दिया है। कोयलने अुसे आमंत्रण दिया है और फूलोंने असका स्वागत किया है। वसन्तके मानी हैं, पक्षियोंका गान, आम्र-मञ्जरियोंकी सुगन्ध, शुभ्र अभ्रोंकी विविधता और पवनकी चञ्चलता। पवन तो हमेशा ही चञ्चल होता है; लेकिन वसन्तमें वह विशेष भावसे क्रीड़ा करता है। जहाँ जाता है, वहाँ पूरे जोश-खरोशके

साथ जाता है; जहाँ बहता है, वहाँ पूरे वेगसे बहता है; जब गाता है तब पूरी शक्तिके साथ गाता है और थोड़ी देरमें बदल भी जाता है।

वसन्तसे संगीतका नया सूत्र शुरू होता है। गायक आठों पहर वसन्तके आलाप ले सकते हैं। वे न तो पूर्व रात्रि देखते हैं, न अन्तर रात्रि।

जब संयम, औचित्य और रस तीनोंका संयोग होता है, तभी संगीतका प्रवाह चलता है। जीवनमें भी अकेला संयम स्मशानवत् हो जायगा, अकेला औचित्य दम्बरूप हो जायगा, और अकेला रस क्षणजीवी विलासितामें ही खप जायगा। अतः तीनोंका संयोग ही जीवन है। वसन्तमें प्रकृति हमें रसकी बाढ़ प्रदान करती है। ऐसे समय संयम और औचित्य ही हमारी पूंजी होने चाहियें।

फरवरी, १९२३

८

हरिणोंका स्मरण

श्रेष्ठ विशाल वन था। बीस-बीस, तीस-तीस कोस तक न भोंपड़ीका पता था, न मुसाफिरोंके कामचलायू चूल्होंका। वनमें श्रेष्ठ रमणीय तालाब था। तालाबके पास कुछ हरिण रहते थे। तालाबके किनारे बेलका श्रेष्ठ पेड़ था। अश्वस पेड़के नीचे पाषाण-रूपमें महादेवजी विराजमान थे। हरिण रोज़ तालाबमें नहाते, महादेवजीके दर्शन करते, और चरने जाते। दोपहरको आकर बेलके पेड़के नीचे विश्राम करते; शामको तालाबका पानी पीकर महादेवजीके दर्शन करते और सो जाते। बिना कोअी शास्त्र पढ़े ही हरिणोंको धर्मका ज्ञान हुआ था। असलिये वे सन्तोष-पूर्वक अपना निर्दोष जीवन व्यतीत करते थे।

माघका महीना था। कृष्णपक्षकी चतुर्दशीके दिनकी बात है। ओक विकराल व्याध अस बनमें घुसा। शाम हुआ ही चाहती थी। व्याध बहुत ही भूखा था। व्याधोंकी भूख औसी-वैसी भूख नहीं होती। अगर अन्हें कुछ न मिले तो वे कच्चा मांस ही खाने बैठ जाते हैं। लेकिन हमारे अस व्याधको अपनी भूखका दुःख न था—“घरमें बाल-बच्चे भूखे हैं, अन्हें क्या खिलाऊँ ? क्या मुँह लेकर घर जाऊँ ? अगर शिकार न मिला, तो खाली हाथ घर जानेकी अपेक्षा रात बनमें ही रह जाना अच्छा होगा—शायद कुछ हाथ लग जाय ।” अस तरह सोचता हुआ वह तालाबके किनारे आया और बेलके पेड़पर चढ़कर बैठ गया।

अपने बाल-बच्चोंके भरण-पोषणके लिये स्वयं बहुत कष्ट उठाने और खतरोंका सामना करनेको ही वह अपना धर्म समझता था। अससे अधिक व्यापक धर्मका ज्ञान असे नहीं था।

रात हुआ। कृष्णपक्षकी घोर अँधेरी काली रात। कुछ दिखाअी न पड़ता था। व्याधने तालाबकी आर देखनेमें रुकावट डालनेवाले बेलके पत्तोंको तोड़-तोड़ कर नीचे फेंक दिया। अतनेमें वहाँ दो-चार हरिण पानी पीने आये। पेड़पर बैठ व्याधको देखकर वे चौंक पड़े और निराशाभरे स्वरमें बोले—“हे व्याध, अपने धनुषपर बाण न चढ़ा। हम मरनेको तैयार हैं, पर हमें अतना समय दे दे कि हम घर जाकर अपने बाल-बच्चों और सगे-सम्बन्धियोंसे मिल आयें। सूर्योदयसे पहले ही हम यहाँ हाज़िर हो जायेंगे।”

व्याध खिलखिलाकर हँस पड़ा। बोला—“क्या तुम मुझे बुद्ध समझते हो ? क्या मैं अस तरह अपने हाथ आये शिकारको छोड़ दूँ ? मेरे बाल-बच्चे तो अधर भूखों तड़प रहे हैं।”

“हम भी तेरी तरह बाल-बच्चोंका ही खयाल करके अतनी

छुट्टी चाह रहे हैं। अकेले बार आजमाकर तो देख कि हम अपने वचनका पालन करते हैं या नहीं ?”

व्याधके मनमें श्रद्धा और कौतुक जाग उठा। ठीक सूर्योदय-से पहले लौट आनेकी ताक़ीद करके असने अतः हरिणोंको घर जाने दिया और खुद बेलके पत्तोंको तोड़ता हुआ रातभर जागता रहा। श्रद्धावान् व्याधके हाथों अपने सिरपर पड़े बिल्वपत्रोंसे महादेवजी संतुष्ट हुआ।

ठीक सूर्योदयका समय हुआ, और हरिणोंका अकेले बड़ा दल वहाँ आ पहुँचा।

हरिण घर गये, बाल-बच्चोंसे मिले, अपने सींगोंसे अकेले-दूसरेके खजलाया, नन्हें बच्चोंको प्रेमसे चाटा, अतः व्याधकी कहानी कह सुनायी और विदा मांगी।

“दुष्ट व्याधके साथ वचन-पालन कैसा ? ‘शठं प्रति शास्त्रं कुर्यात् ।’ पैरोंमें जितना जोर हो अतः सब जोर लगाकर यहाँ-से चुपचाप भाग जाओ !” ऐसी सलाह देनेवाला अतःमें कोशी न निकला। सगे-सम्बन्धियोंने कहा--“चलो हम भी साथ चलते हैं। स्वेच्छासे मृत्यु स्वीकार करनेपर मोक्ष मिलता है। आपके अपूर्व आत्म-यज्ञको देखकर हम पुनीत होंगे !”

बाल-बच्चे साथ हो लिये। मानो सब व्याधकी हिंसाताकी परीक्षा करने ही निकले हों !

सूर्योदयसे पहले ही सारा दल वहाँ आ पहुँचा। रातवाले हरिण आगे बढ़े और बोले--“लो भाभी, हम वधके लिये तैयार हैं।” दूसरे हरिण भी बोल उठे--“हमें भी मार डालो ! अगर हमें मारनेसे तुम्हारे बाल-बच्चोंकी भूख शान्त होती है, तो अच्छा ही है।” व्याधकी हिंसावृत्ति रात्रिकी तरह लुप्त हो गयी। सारे दिनका अशुपवास और सारे रातके जागरण-से असकी चित्तवृत्ति अन्तर्मुख हुआ थी। तिसपर अतः

प्रतिज्ञा-पालक हरिणोंका धर्माचरण देखकर वह दङ्ग रह गया। श्रुसके हृदयमें नया प्रकाश फैला। श्रुसे प्रेम-शौर्यकी दीक्षा मिली। वह पेड़से उतरा और हरिणोंकी शरण गया। दो पैर-वालेने चार पैरवाले पशुओंके पैर छुओ। आकाशसे श्वेत पुष्पोंकी वृष्टि हुई। कैलाशसे ओक बड़ा विमान उतर आया। व्याध और हरिण असमें बैठे और कल्याणकारिणी शिवरात्रिका महात्म्य गाते हुए शिवलोक सिधारे। आज भी वे दिव्य रूपमें चमकते हैं।^१

महाशिवरात्रिका दिन मानो अिन धर्मनिष्ठ, सत्यव्रत हरिणोंके स्मरणका ही दिन है।^२

मार्च, १९२२

१ मृगानक्षत्र और व्याध

२ अेकादशी, अष्टमी, चतुर्थी और शिवरात्रि ये सब हिन्दू महीने में हमेशा आनेवाले त्योहार हैं। वृष्णवोंने अेकादशीको सबके जिये लोकप्रिय बना दिया है। गणपतिके श्रुपासक विनायको और संकष्टी चतुर्थीका व्रत रखते हैं। देवीके श्रुपासक अष्टमीका व्रत रखते हैं। शिवरात्रि हर महीने कृष्णपक्षकी चतुर्थीके दिन आती है। शैव लोग शिवरात्रिका व्रत रखते हैं। जिस तरह अेकादशियोंमें आषादी और कार्तिकी अेकादशियां महा-अेकादशियाँ हैं, श्रुसी तरह माघ महीनेकी शिवरात्रि महाशिवरात्रि है।

प्रत्येक मासके प्रत्येक त्योहारका अपना माहात्म्य और श्रुसकी अपनी अेक कथा होती है। अुनमेंसे महाशिवरात्रिकी कथा अपर दी गयी है।

कहानीके अिस पुरातन क्षेत्रकी ओर लोक-कथाओंका संग्रह करने-वाले संशोधकोंका ध्यान जाना चाहिये।

६

गुलामोंका त्योहार

प्रत्येक त्योहारमें कुछ-न-कुछ ग्रहण करने योग्य अवश्य होता है। लेकिन क्या आजकलकी होलीसे भी कुछ शिक्षा मिल सकती है ? पिछले बीस-पचीस बरसोंमें यह त्योहार जिस ढंगसे मनाया गया है, उसे देखते हुआ तो जिसके विषयमें किसी तरहका उत्साह उत्पन्न नहीं हो सकता। न जिसका प्राचीन इतिहास, और न पौराणिक कथाओं ही इस त्योहारपर कोथी अच्छा प्रकाश डालती हैं। फिर भी यह तो स्वीकार करना ही चाहिये कि होली एक प्राचीनतम त्योहार है। जाड़ेके समाप्त होनेपर एक जबर-दस्त होली जलाकर आनन्दोत्सव मनानेका रिवाज हर एक देशमें और हर एक जमानेमें मौजूद रहा है। जिस उत्सवमें लोग संयमकी लगाम ढीली छोड़कर स्वच्छन्दताका थोड़ा आस्वाद लेना चाहते हैं।

हिन्दुओंमें अकेले मनुष्योंकी ही जाति नहीं होती, बल्कि देवताओं, पशु-पक्षियों और त्योहारोंकी भी अपनी जातियाँ होती हैं। स्वर्गके अष्टावसु जातिके वैश्य हैं, नाग और कबूतर ब्राह्मण होते हैं और तोता बनिया माना जाता है। इसी तरह होलीका त्योहार शूद्रोंका त्योहार है। क्या इसीलिये किसी जमानेके बिगड़े हुए शूद्रों द्वारा होलीका यह कार्यक्रम बनाया गया था और उनके हकोंकी क़ायम रखनेके लिये दूसरे वर्णोंने उसे स्वीकार कर लिया था ? पुराणोंमें एक नियम है कि होलीके दिन अछूतोंको छूना चाहिये। भला जिसका क्या अद्देश्य रहा होगा ? द्विज लोग संस्कारी अर्थात् संयमी और शूद्र स्वच्छन्दी है, क्या इसी विचारसे होलीमें अतनी स्वच्छन्दता रखी गयी है। होलीके दिन राजा-प्रजा एक होकर एक-दूसरेपर रंग अड़ते हैं। क्या जिसका आशय यह है कि सालमें कम-से-कम चार-पाँच दिन तो सब

लोग समानताके सिद्धान्तका अनुभव करें ।

होली यानी काम-दहन; वैराग्यकी साधना। विषयको काब्यका मोहक रूप देनेसे वह बढ़ता है। अुसीको बीभत्स स्वरूप देकर, नंगा करके, समाजके सामने अुसका असली रूप खड़ा करके, विषयभोगके प्रति घृणा अुत्पन्न करनेका अुद्देश्य तो अिसमें नहीं था न ? जाड़ेभर जिसके मोहपाशमें फँसे रहे, अुसकी दुर्गति करके, अुसे जलाकर और पश्चात्तापकी राख शरीरपर मलकर वैराग्य धारण करनेका अुद्देश्य तो अिसमें नहीं था न ?

अिसकी जड़में प्राचीन कालकी लिंग-पूजाकी विडम्बना तो नहीं थी न ?

लेकिन होलिकाका अर्थ वसन्तोत्सव भी तो है। जाड़ा गया, वसन्तका नूतन जीवन धनस्पतियोंमें भी आ गया। अतः जाड़ेमें जमा करके रखी हुअी तमाम लकड़ियोंको अेकत्र-करके आखिरी बार आग जलाकर ठंडको बिदा करनेका तो यह अुत्सव नहीं है न ? और यह दुंढा राक्षसी कौन है ? कहते हैं कि यह नन्हें बच्चोंको सताती है। होलीके दिन जगह-जगह आग सुलगाकर, शोर-गुल मचाकर अुसे भगा दिया जाता है। अिसमें कौन-सी कवि-कल्पना है ? क्या रहस्य है ?

लोगोंमें अश्लीलता तो है ही। वह मिटाये मिट नहीं सकती। कुछ लोगोंका खयाल है कि 'तुष्यतु दुर्जनः' न्यायके अनुसार अुसे सालमें अेक दिन दे देनेसे वह हीन वृत्ति वर्षभर काबूमें रहती है। अगर यह सच है, तो वह अेक भयंकर भूल है। आगमें घी डालनेसे वह कभी काबूमें नहीं रहती। पाप और अग्निके साथ स्नेह कैसा ? वसन्तका अुत्सव श्रीश्वर स्मरण-पूर्वक सौम्य रीतिसे मनाना चाहिये। क्या दीवालीमें अुत्सवका आनन्द कम होता है ? क्या लकड़ियोंकी होली जलानेसे ही सच्चा वसन्तोत्सव मनाया जा सकता है ? यदि यह माना

जाय कि होलिका अक राक्षसी थी और उसे जलानेका यह त्योहार है, तो हम उसे चुराकर लाञ्छी हुआ लकड़ियोंसे नहीं जला सकते। होलिका राक्षसी तो प्रह्लादकी निर्वैर पवित्रतासे ही जल सकती है।

हमें यह सोचना चाहिये कि हमारे त्योहार हमारे राष्ट्रीय जीवन और हमारी संस्कृतिके प्रतिबिम्ब हैं या नहीं ? मनुष्यमात्र अत्युत्सवप्रिय है परन्तु स्वतंत्र मनुष्योंका अत्युत्सव जुदा होता है, और गुलामोंका जुदा। जो स्वतंत्र होता है, जिसके सिर जिम्मेदारी होती है, जिसको अधिकारका उपयोग करना होता है, उसकी अभिरुचि सादी और प्रतिष्ठित होती है। जो परबन्ध होता है, जिसे अपने अन्तरदायित्वका ज्ञान नहीं, जिसके जीवनमें कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं उसकी अभिरुचि बेढंगी और अतिरेक-युक्त होती है। अक ग्रंथकारने लिखा है कि स्त्रियोंको तरह-तरहके रंग जो पसन्द आते हैं, और रंग-बिरंगी व चित्र-विचित्र पोशाककी ओर उनका मन जो दौड़ा करता है, उसका कारण उनकी परवशता है। यदि स्त्री स्वाधीन हो जाय, तो उसका पहनावा भी सादा और सफेद हो जायगा। स्त्रियोंके सम्बन्धमें यह बात सच हो या न हो, मगर जनता पर तो यह भलीभाँति चरितार्थ होती है। जिस जमानेमें जनता अधिकारहीन, परतन्त्र, बालवृत्तिवाली और गैरजिम्मेदारी रही होगी, उसी जमानेमें मूर्खतापूर्ण कार्यों द्वारा अिस त्योहारको मनानेकी यह प्रथा प्रचलित हुआ होगी।

रोमन लोगोंमें सैटर्नेलिया नामसे गुलामोंका अक त्योहार मनाया जाता था। उस दिन गुलाम अपने मालिकके साथ खाना खाते, जुआ खेलते, आज्ञादीसे बोलते-चालते और खुशियाँ मनाते। उस दिन अितना आनन्द मनानेके बाद फिर अक साल तक गुलामीमें रहनेकी हिम्मत उनमें आ जाती थी।

स्वराज्यवादी जनताको अधिक गम्भीर बनना चाहिये। अपनी योग्यता क्या है, अपनी स्थिति कैसी है, आदि बातोंका विचार करके उसको ऐसा जीवन बिताना चाहिये, जो उसे शोभा दे। अगर वसन्तोत्सव मनाना है, तो समाजमें नया जीवन पैदा करके यह त्योहार मनाना चाहिये। अगर काम-दहन करना है, तो ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके पवित्र बनना चाहिये। यदि होलिकोत्सव गुलामोंके लिये अकेला सांत्वनाका साधन हो, तो स्वराज्यकी खातिर उसे तुरन्त ही मिटा देना चाहिये। अगर भाषाके भण्डारमेंसे गालियोंकी पूँजी कम हो जाय, तो उसके लिये शोक करनेकी कोशिश जरूरत नहीं। होलीके दिनोंमें शहरों और गांवोंकी सफाई करनेमें हम अपना समय बिता सकते हैं। लड़के कसरत करने और बहादुरीके मरदाने खेल खेलनेमें तथा शराबके व्यसनमें फँसे हुए लोगोंके मुहल्लोंमें जाकर उन्हें शराबखोरी छोड़ देनेका व्यक्तिगत उपदेश देनेमें इस दिनका उपयोग कर सकते हैं। स्त्रियां स्वदेशीके गीत गा-गाकर खादीका प्रचार कर सकती हैं।

प्रत्येक त्योहारका अपना अकेला स्वराज्य-संस्करण अवश्य होना चाहिये, क्योंकि स्वराज्यका अर्थ है; आत्म-शुद्धि और नवजीवन।

सर्वोदय साहित्य मन्दिर
हुसैन्याअलम रोड, हैदराबाद (दक्षिण).

